युग सेतु

वर्ष 7 अंक 69 जून 2017

वेबसाइट : www.yugsetu.com
&
www.yugsetu.simplesite.com

संपादक
ओम प्रकाश शर्मा

कार्यालय
जी-21, प्रथम तल, लक्ष्मी नगर
दिल्ली-110092
दूरभाष-011-22040692

संपर्क कार्यालय
873, सेक्टर-21सी, हरियाणा-121001
दूरभाष-9013379808, 9650914297

ई.मेल : yugsetu@gmail.com

स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक ओम प्रकाश शर्मा द्वारा, जी 21 लक्ष्मी नगर, दिल्ली से प्रकाशित एवं ग्राफिक प्रिंट, 383 एफ.आई.ई.पटपड़गंज इंडस्ट्रीयल एरिया, दिल्ली 110092 से मुद्रित।

अंदर के पन्नों में .....

संपादकीय (2)

कबीर का क्रांतियोग (4)

अपराध का स्वरूप (7)

अविरल साधना है धर्म (9)

जनतंत्र का जलतरंग (14)

आम आदमी के सरोकार (16)

स्वाधीनता के सरोकार (18)

मानवीयता बृहद् भावना है (22)

धर्म के बिना अधूरी है राजनीति (24)

मवेशियों का वध क्यों? (26)

युग सेतु में लेखकों के प्रकाशित आलेखों के विचारों से संपादक या प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।
किसी भी विवाद का निबटारा दिल्ली न्यायालय में होगा।

सत्यांश

रहना नहीं देश बेगाना है

पिछले कुछ समय से विदेशों में बसे भारतीयों पर एक के बाद एक कई हमले हुए हैं, तो दूसरी तरफ भारत आने वाले विदेशियों पर हो रहे अपराध भी कम नहीं हो रहे। ऐसे समय कबीर के नाम से मशहूर और दर्जनों आधुनिक गायकों द्वारा अलग-अलग ढंग से गाए जाने वाले गीति-पद 'रहना नहीं देश बिराना है' की प्रासंगिकता कुछ अलग नजर आने लगी है। मन-मस्तिष्क में पैठा इसका विराट भाव-गांभीर्य अब सिमटता लगता है। पद-भजन तो वही है और गायक भी पहले की भाँति स्वर, ताल, लय के साथ गाकर समाँ बाँध ाते हैं। यह ठीक है कि कई बार संगीत पर अधि ाक जोर रहने से आत्मिक लयात्मकता क्षरित होती है, पर किसी भी हालत में आंतरिक संप्रेषणीयता के बिना उत्तम गायन संभव नहीं है। अस्तु, कबीर का अभिप्राय संसार की क्षुद्रता व निस्सारता को उजागर कर जीवन के वास्तविक ध्येय से लोगों को परिचित कराना था, लेकिन वहाँ देश का मतलब आजकल के भौगोलिक देश जैसा नहीं था, बल्कि वह समूचे मायावी संसार का सूचक था-

रहना नहीं देश बिराना है।
यह संसार कागद की पुरिया
बूंद परे घुलजाना है,
यह संसार झाड़ और
झांखड़ आग लगे जलिजानाहै।

दूसरी ओर, सूरदास के यहाँ देश का मतलब आजकल के देश जैसा ही है। कष्णप्रेमी जीवात्माएँ, गोपियाँ उद्धव से निर्गुण ब्रह्म के देश का नाम जानना चाहती हैं -'निरगुन कौन देश कौ बासी। /मधुकर कहि समुझाई सौंह दै बूझति साँच न हाँसी।'

बहरहाल, चाहे विदेशों में भारतीयों पर हिंसा की घटनाएँ हों या फिर भारत में विदेशियों पर हमले, ज्यादातर मामलों को नस्लीय हिंया की तरह उछाला जाता है। कुछ जगह यह वास्तव में नस्लीय हिंसा ही होती है, लेकिन आपराधिक प्रवषत्ति की बहुस्तरीय किस्मों का उभार एक सार्वभौमिक समस्या है। विश्व भर में ऐसी ताकतें सत्तासीन हो रही हैं, जो सांप्रदायिक, जातीय, राष्ट्रीय उग्रता को हवा देती हैं, उन्हें अपने पक्ष में भुनाती हैं। लगभग सभी देशों में प्रवासी कामगारों, मजदूरों, विद्यार्थियों, व्यावसायियों पर किस्म-किस्म जुल्म ढाए जाते रहे हैं। उन्हें बंधक बनाकर रखने, काम कराके पारिश्रमिक न देने और यातनाएँ देने का इतिहास - इतिहास जितना ही पुराना है। वर्तमान में मीडिया की सुर्खियों में आने के बाद कुछ घटनाएँ सरकार व समाज को सक्रिय करने में सफल रही हैं, हालाँकि ऐसे मामलों में मीडिया की चुप्पी पर भी सवाल उठते रहे हैं।

विदेशी पर्यटकों को शिकार बनाने के मामले में भारत का रिकार्ड भी ठीक नहीं है; अफ्रीकी, यूरोपीय, अमेरिकी, उज्बेकिस्तानी लोगों के साथ यौनाचार से लेकर लूटपाट व कत्ल तक की वारदातें हुई हैं और इन्हें उचित ठहराने का आख्यान मीडिया से लेकर जुबानी जंग-मैदान तक में भरे पड़े मिलते हैं। विदेशों में भी 'हमारे देश को छोड़कर अपने देश को जाओ' कहकर भारतीयों पर हमला करने वालों के अतिरिक्त भी वहाँ हमलों का औचित्य सिद्ध करने वाले

अवश्य होंगे।

केवल अतिथि-मेहमान या घरेलू हो जाने के कारण प्रवासी भी निर्दोष नहीं हो जाते। भारत में बहुत सारे विदेशी तरह-तरह के अपराधों जैसे ड्रग रैकेट से लेकर सेक्स रैकेट तक तथा खुफिया सूचनाएँ एकत्र करने से लेकर जघन्य वारदात को अंजाम देने तक में संलिप्त पाए गए हैं, बेशक हरएक अपराध यहाँ के लोगों की मदद से ही होता है। सवाल यह भी है कि क्या अपने देश में अपने नागरिकों पर जुल्म नहीं ढाए जाते, नागरिक खुद जुल्म नहीं करते?

हाल में संयुक्त राष्ट्र की मानवाधिकार शाखा ने भारत को उत्पीड़ितों, दमितों, अल्पसंख्यकों और महिलाओं के खिलाफ हिंसा रोकने की सलाह दी है। ऐसे परामर्श की जरूरत पड़ती है, क्योंकि अपने पर नियंत्रण रखना कठिन है, जबकि उपदेश देना आसान है -'पर उपदेश कुशल बहुतेरे।' इसलिए अपने नागरिकों की असुरक्षा व उत्पीड़न के मामले में संसद, सरकार चाहे चुप रह जाए, पर वह विदेशों में रह रहे अपने देश के लोगों पर सुर्खियों में आए अत्याचार के मामले में पीछे नहीं रह सकती; लेकिन ऐसे सभी अपराधों को नस्लीय हिंसा का रूप देना ठीक नहीं। निस्संदेह नस्ल, जाति, क्षेत्र के कारण घटित न होने वाला अपराध भी कहीं न कहीं इनसे जुड़ अवश्य सकता है, पर जोड़ना सदैव उचित नहीं। अज्ञेय जी के शब्दों में-

अपनी पहली साँस और चीख के साथ
हम जिस जीवन के
पक्षधर बने अनजाने ही,
आज होकर सयाने
उसे हम वरते हैं :
इतने घने
कि उसी को जीने और जिलाने के लिए
स्वेच्छा से मरते हैं।

किसी समाज में जिस समुदाय, नस्ल, जाति, संप्रदाय की जितनी आबादी है, कुल हुए अपराधों में लगभग उसी औसत अनुपात में उनका अपराध करना और पीड़ित होना लाजिमी है, हालाँकि यह जरूरी नहीं है। कुछएक समाज के लोग परंपरागत तौर पर, तो कुछ नये उभार के साथ अपेक्षाकष्त अधिक अपराध करते हैं, वहीं कुछ लोग अपराधों में अपेक्षाकष्त कम लिप्त रहते हैं, परंतु अपराधों की बढ़ोतरी होने की दशा में सबका अंशदान झलकता ही है।

किसी समुदाय में उसकी आबादी के औसत प्रतिशत से बहुत अधिक पीड़ितों या अपराधियों की उपस्थिति उस समुदाय के लिए ही नहीं, पूरे देश-समाज के लिए खतरे की आहट है। समग्रतः सद्प्रवषत्तियों से संयुक्त आदमीयत का लगातार ह्रास और संकीर्ण, हिंसक, क्रूर होता जा रहा मानस-माहौल असली समस्या है, अन्यथा क्या देश और क्या विदेश, अपने लक्ष्य व परहित के लिए मरना महोत्सव जैसा होता है, जो अब देहदान की तकनीक व उसके प्रचलन से और अधिक सार्थक हो गया है -

मरनो भला विदेश में जहाँ न आपन कोय।
माटी खाय जानवरा महा महोत्सव होय।।

बहुतों को अपना देश भी विदेश जैसा लगता है, तो कइयों को विदेश अपने देश जैसा नसीब होता है। कबीर की दषष्टि से भी देश और विदेश में कोई फर्क नहीं है। थोड़े-बहुत स्थूल अंतर के साथ दोनों ही नश्वरता और असत्यता भेदक्षेत्र हैं और अंततः बेगानापन और वीरानगी इनकी स्थायी पहचान है।

कबीर का क्रांतियोग

-डॉ. ओम प्रकाश शर्मा

आजकल योग का संबंध प्रायः शारीरिक व्यायाम और आसन-प्राणायाम के स्थूल रूप तक सिमट कर रह गया है। कुछ लोग 'प्रत्याहार', 'धारणा', 'ध्यान' की ओर बढ़ते तो हैं, किंतु अहिंसा, सत्याचरण, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय आदि प्राथमिक जरूरतों से दूर रहने के कारण उनकी योग-साधना का रास्ता वैसे ही कभी पूरा नहीं होता, जैसे बिना 'क'-'ख' सीखे वेद-उपनिषद पढ़ना नामुमकिन है। निस्संदेह शारीरिक कार्य-व्यापार, व्यायाम, तेजी से टहलने और धीरे-धीरे दौड़ने से शरीर सुगठित रहता है। स्वस्थ शरीर से ही सर्वांग योग-साधना संभव है। योग-साधना के आठ सोपान हैं -'यम', 'नियम', 'आसन', 'प्राणायाम', 'प्रत्याहार', 'धारणा', 'ध्यान' और 'समाधि।' 'यम' के अंतर्गत हिंसक प्रवृत्ति का परित्याग, सत्य का आचरण, दूसरे की धन-संपत्ति के प्रति लोभ-मोह-लिप्सा का सर्वथा अभाव तथा स्वयं द्वारा भी धन-संग्रह के प्रति अनिच्छा और ब्रह्मचर्य का पालन करना होता है। हर दृष्टि से शुद्धता-पवित्रता, संतोष, तपस्या, स्वाध्याय और बिना आकांक्षा के ईश्वर में अनुरक्ति पॉच 'नियम' निर्धारित हैं। चौरासी 'आसनों' में 'सिद्धासन', 'पद्मासन', 'उग्रासन' और 'स्वस्तिकासन' मुख्य हैं। 'प्राणायाम' के तीन तरीकों में साँस छोड़ने को 'रेचक', खींचने को 'पूरक' और रोकने को 'कुंभक' कहा जाता है। 'प्रत्याहार' के अंतर्गत इंद्रियाँ पहले के चरणों को पार कर बिल्कुल आत्माधीन होकर इच्छित कार्य-भाव में लीन हो जाती हैं। किसी इष्ट विशेष पर मन को पूर्णतः अधिष्ठित करने की स्थिति 'धारणा' है। 'ध्यान' द्वारा अंतरंग शरीर की नाभि, हृदय या कंठ में मन को अवस्थित किया जाता है, जहाँ की एकाग्रता में बाकी सारे भाव-विचार तिरोहित हो जाते हैं। 'समाधि' के अंतर्गत अंतर्धान की गई वस्तु प्राप्त हो जाती है।

योग भी मनुष्य जीवन के उन्नयन के लिए बताए गए अन्य मार्गों ज्ञान, कर्म और भक्ति की तरह अकेले ही जीवन के चरम लक्ष्य तक पहुँचाने में सक्षम है, तथापि जीवन की पूर्णता इन चारों के समन्वय में है। इनकी परस्पर पूरकता के कारण किसी एक की सिद्धि दूसरे की भी उपलब्धि बन जाती है। इसी कारण योग का अपना स्वायत्त अनुशासन तो है ही, साथ ही यह अपने तीनों समकक्षों के साथ मिलकर ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग के रूप में अद्भुत सौंदर्य सृजित करता है। इस संकल्पना के पीछे ज्ञान, कर्म, भक्ति में एकदम तल्लीन रहने की भावना सन्निहित है, जैसी योग की चरम स्थिति में सारी कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन, हृदय व शरीर एकाग्रचित्त व एकलय होकर अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करता है। चूँकि 'योगः कर्मसु कौशलम्' यानी कर्म की कुशलता ही योग है, अतः दक्षता, कुशलता, तन्मयता के रूप में योगभाव जीवन के हर क्षेत्र में अपेक्षित है। इसी दक्षता के योगभाव की बदौलत कबीर ज्ञान, कर्म, योग और भक्ति की सहज मौलिक आत्मसिद्धि के प्रमाण बन सके।

कबीर को समाज सुधारक, धर्मचेता, संत साधक, उपदेशक, भक्त और विद्रोही कवि के रूप में जाना जाता है, पर समग्रतः वे क्रांतिचेता योगसाधक थे, हालाँकि उन्होंने पतंजलि प्रवर्तित योगशास्त्र के अनुकूल योग की प्रक्रिया का उल्लेख अत्यल्प किया है। यह उनका प्रयोजन भी नहीं हो सकता, क्योंकि वे योग के अभीप्सित आचार्य नहीं थे। कबीर की भक्ति की तरह

उनकी साधना भी सहज है। वस्तुतः भक्ति हो या योग, कबीर इन्हें साधना का विषय कम, भावना का विषय अधिक मानते हैं, इस रूप में सहज भावयोग के प्रणेता ठहरते हैं। योग को योग में जिया, इसलिए उनकी ध्येयनिष्ठता किसी योगी से कम नहीं थी, अन्यथा कबीर कबीर बिल्कुल भी न होते। योगशास्त्र में 'धारणा', 'ध्यान', 'समाधि' को एक शब्द में 'संयम' कहा जाता है, जिसे अपनाने वाले कबीर से बेहतर उदाहरण नहीं मिलता। धर्म व समाज सुधार की अदम्य उत्कंठा, संत का-सा आचरण और बाह्याडंबरों, मिथ्याचारों, अंधविश्वासों, विकृतियों के प्रति तीव्र आक्रोश का स्वर बिना योग-साधना और क्रांतिदर्शिता के संभव नहीं है। क्रांति और योग की वीचि पर खड़े कबीर के विचार-दर्शन को एक शब्द में 'क्रांतियोग' कहा जा सकता है।

परिवर्तन की सतत चलने वाली प्रक्रिया को सुदिशा देने के निमित्त क्रांति की आवश्यकता पड़ती है, जिसका लक्ष्य जड़ता, यथास्थितिवाद को जड़-मूल से खत्म कर नया निर्माण करना होता है। जनचेतना व जनजागृति इसके कारगर अस्त्र हैं, यद्यपि इसके अभाव में भी क्रांति घटित होती है, पर वह दिग्भ्रमित होकर अंततः उसी जगह पहुँचती है, जिसके विरोध की नींव पर उसका निर्माण हुआ होता है। कई बार यह खुद प्रतिगामिता व जड़ता का पर्याय बन जाती है। वंचनाओं, कुप्रथाओं, आडंबरों को उनके प्राबल्य-प्रभुत्व के समय पहचानना, उनका पर्दाफाश करना काफी साहस की माँग करता है। कबीर उसके संहार के आगाज से आगे बढ़कर पुख्ता आचार-संहिता भी सुझाते हैं।

ज्ञान का विषय हो या भक्ति का क्षेत्र हो, योग की साधना हो या कर्म का पथ हो, कबीर ने सर्वत्र अपनी खास मौलिक आत्मचेतना या आधुनिक शब्दावली में कहें तो प्रगतिशीलता से आमूलचूल परिवर्तन का संकल्प रखा है। यह अकारण नहीं है कि हाशिए पर रहे लोगों के अतिरिक्त भारत के कई कम्यूनिस्ट भी उन्हें अपना आदिगुरु मानते हैं। सर्वांग योग व समग्र क्रांति के पुरोधा कबीर ने परंपरागत व प्रचलित योग को लेकर जगह-जगह नाथपंथियों-अवधूतों पर प्रहार किया है -'अवधू जागत नींद न कीजै' आदि-आदि। हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'कबीर अवधूतों को ललकारते हैं।' जरा सोचिए, कबीर जागते हुओं को सोने का ढंग धरा देखकर जब व्यंग्य कर सकते हैं तो फिर योग के दौरान दुखियों को ठठाते हुए देखते तो क्या कहते? इन्हीं सब कारणों से 'कागद की लेखी' की बजाय 'आँखिन की देखी' को प्रामाणिक ज्ञान का साधन मानते हैं -'कबीर संसा दूर करू, पुस्तक देहि बहाय।' वैसे भी गूढ़ विषयों को कहने की नहीं, अनुभूति की वस्तु मानकर अपने सखा से उन्होंने कहा -'धर्मदास तोहे लाख दोहाई। सार भेद बाहर नहिं जाई।' असली अध्यात्म अनुभूति की गहराई में होता है, जिसे व्यक्त नहीं किया जा सकता लेकिन सत्य भी वही बोल सकता है जिसे ज्ञान प्राप्त हो।-

पारब्रह्म के तेज कूँ कैसा है उनमान।
कहिबे की सोभा नही देख्या ही परवान।।

अमूमन साधु-संन्यासी समाज-संसार से आँख मूँदकर निरपेक्ष भाव में जीते हैं या फिर धर्म, योग, भक्ति को विकृत-बाजारू रूप देकर उसकी मार्केटिंग करते हैं। कहने की जरूरत नहीं कि सांसारिक मानी जाने वाली सुख-सुविधाओं, ऐश्वर्य-समृद्धि के साम्राज्य को आजकल धर्म, अध्यात्म, योग का धंधा करने वालों ने ज्यादा धारण कर रखा है। कबीर ऐसे धर्म, योग, भक्ति के नाटक को पाखंडपूर्ण और धोखा मानते हैं। उनका पूरा जोर सीधे सहज रास्ते से मनुष्य ही नहीं, प्राणिमात्र के परित्राण पर है। इसलिए न तो धर्म के विकृत होते रूप को स्वीकार किया और समाज-संसार को मायावी मानते हुए भी न ही उससे आँखें बंद कीं।

निर्द्वंद्व चेता के रूप में धर्म के सही स्वरूप को

बलि देने वाले शाक्तों के बनिस्बत वैष्णवों को भला माना -'वैष्णव की छपरी भली, ना साकत बड़ गॉव।' इस समय भी गायों की हत्या और तस्करी को लेकर तो बवाल होता रहता है, पर बाकी जीव-जंतुओं के मांस भक्षण के मामले में गोरक्षक भी पीछे नहीं रहते। कबीर ने चेताया है -'बकरी पाती खात है ताकी काढ़ी खाल।/जो नर बकरी खात है उनका कौन हवाल।' आधुनिक जीवनमूल्यों की स्थापना और वैश्विक कालजयी स्वर के साथ थोथे अभिजात्य से मुक्ति का शंखनाद कबीरदास की अनुपम देन है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, 'कबीर ने अपनी झाड़-फटकार के द्वारा हिन्दुओं-मुसलमानों का कट्टरपन दूर करने का प्रयास किया, यद्यपि उनमें आक्रोश इतना है कि प्रभाव सीमित कहा जाएगा।' दूसरी ओर, उनके लगभग समकालीन रहे पीपा ने कहा था -'जो कलि माँझ कबीर न होते।/तौ तेकृबेद अरु कलि मिलके भक्ति रसातल देते।' वास्तव में कबीर अपने समय के ही नहीं, इस युग के प्रकाशस्तंभ हैं।

साहस के साथ लोगों के सामने रखा, तो वहीं सामाजिक समस्याओं के प्रति जनचेतना जागृत की। इस प्रकार उनका समाजबोध एवं अध्यात्मबोध दोनों व्यापक यथार्थबोध और गहरे व्यावहारिक बोध से संयुक्त था। अपने समय की मानवीय सांस्कषतिक भावधारा में 'गेहूँ में घुन' की तरह व्याप्त दुष्प्रवषत्तियों को चुन-चुन कर नष्ट करने का बीड़ा उठाया। उनके समय में ब्राह्मणवादी संस्कषति को 'राम का कुत्ता' तक कह देते हैं -'कबीर कुत्ता राम का, मोतिया मेरा नाउ।' इसकी पराकाष्ठा में ईश्वर को अज्ञानी कहकर उसमें दोष ढूँढ़ने लगते हैं -'हमहिं कुसेबग कि तुम्हहि अग्याना। दुहूँ मै दोष कहौ किन रामा।।'

हिंसा व बलि जैसी धर्मविरोधी कुरीतियों की घोर निंदा करते हुए बलि देने वाले शाक्तों के बनिस्बत वैष्णवों को भला माना -'वैष्णव की छपरी भली, ना साकत बड़ गॉव।' इस समय भी गायों की हत्या और तस्करी को लेकर तो बवाल होता रहता है, पर बाकी जीव-जंतुओं के मांस भक्षण के मामले में गोरक्षक भी पीछे नहीं रहते। कबीर ने चेताया है -'बकरी पाती खात है ताकी काढ़ी खाल।/जो नर बकरी खात है उनका कौन हवाल।' आधुनिक जीवनमूल्यों की स्थापना और वैश्विक कालजयी स्वर के साथ थोथे अभिजात्य से मुक्ति का शंखनाद कबीरदास की अनुपम देन है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, 'कबीर ने अपनी झाड़-फटकार के द्वारा हिन्दुओं-मुसलमानों का कट्टरपन दूर करने का प्रयास किया, यद्यपि उनमें आक्रोश इतना है कि प्रभाव सीमित कहा जाएगा।' दूसरी ओर, उनके लगभग समकालीन रहे पीपा ने कहा था -'जो कलि माँझ कबीर न होते।/तौ तेकृबेद अरु कलि मिलके भक्ति रसातल देते।' वास्तव में कबीर अपने समय के ही नहीं, इस युग के प्रकाशस्तंभ हैं।

अपराध का स्वरूप

समाज में बहुत तरह के अपराध होते रहते हैं, नए-नए रूप में नये-नये तरीके ईजाद करने के साथ। माना जाता है कि यह आपराधिक प्रवृत्ति के लोगों और असामाजिक तत्वों द्वारा किए जाते हैं, अतः उन्हीं को खत्म कर देने से अपराध खत्म हो जाएँगे, लेकिन ऐसा संभव नहीं होता, क्यों? क्योंकि अपराध की मूल प्रवृत्ति कुछ और ही है। समाज में जितने अपराध अपराधियों द्वारा किए जाते हैं, उससे अधिक 'गैर-अपराधियों' द्वारा भी। कुछ अपराध साफ दिखाई देते हैं, लेकिन बहुत जीवन के साथ अभिन्न रूप से जुड़े होते हैं, जीवन के स्वाभाविक और नैसर्गिक अंग बने होते हैं। इनको करते हुए आदमी को इस बात का एहसास भी नहीं होता कि वह कोई अपराध कर रहा है। इसका कारण यही है कि जीवन जगत में जो भी दुख, जो भी अंधकार, जो भी घृणा और हिंसा पैदा हुई है,अविद्या-अहित को विद्या-हित समझ लेने से हुई है। ओशो का साफ कहना है कि जो विद्या आजीविका सिखाती है, जो लिविंग देती है, रोजी रोटी देती है, वह अविद्या है। मूल विद्या है हर स्थिति में आनंदमग्न रहना, स्थिर प्रज्ञ की तरह रहना। ऐसे में व्यक्ति प्रेम को उपलब्ध होता है, वह जितना प्रेम को बाँटेगा, उतना ही सुखी होगा, उतना ही वह दूसरों को भी सुखी पाएगा। उसके द्वारा दुख की किसी को कोई संभावना नहीं है, क्योंकि दूसरों को दुख देने में वह खुद ही दुखी हो जाएगा। प्रेमपूर्ण चित्त का अर्थ ही यही है कि वहाँ दूसरों का दुख दुखी करता है, दूसरे का सुख सुखी करता है। घृणा से भरे चित्त की स्थिति बिल्कुल उल्टी है, वहाँ दूसरे का दुख सुखी करता है और दूसरे का सुख दुखी करता है। वहाँ जब कोई आदमी सुखी दिखाई देता है तो ईर्ष्या, कपट, बेचैनी पकड़ लेती है। जब कोई आदमी दुखी दिखाई देता है तो ऊपर से वह बड़ी सहानुभूति की बातें करता है, लेकिन भीतर रस पाता है बड़े सुख का।

ओशो की दृष्टि में चोर और जज और पुलिस एक साथ ही जुड़े हुए हैं। ये एक ही चीज के हिस्से हैं। ये अलग नहीं हैं। जज अकड़कर बैठा हुआ है, लेकिन वह चोर का दूसरा हिस्सा है। जब तक चोर है, तब तक जज भी बैठा हुआ है, तब तक वह भी शान बढ़ाए हुए है। मतलब यह है कि इसमें एक की उपस्थिति पर ही दूसरे का अस्तित्व टिका हुआ है। समाज में अपराधी न हों तो अपराध-नियंत्रण रखने वाले तंत्र की क्या आवश्यकता होगी? ऐसे तंत्र के भीतर ही इतनी अधिक मात्रा और इतनी तरह के अपराध होते हैं जो अपराधियों के अपराध को छोटा बनाते हैं। किसी चीज के प्रति सकारात्मक ही नहीं, नकारात्मक रूख भी उसे न केवल जिन्दा रखता है, अपितु सबल भी बनाता है, जैसे किसी व्यक्ति या वस्तु के विरह में उसकी याद सदैव उपस्थित रहती है, ठीक उसी प्रकार अपराध के नियंत्रक तंत्र अपराध को टिकाए रखते हैं। इसलिए दुख को छोड़कर सुख और शोक को छोड़कर आनंद प्राप्त करने की बजाय सुख-दुख, शोक-उत्सव से परे रहने को सर्वोत्तम जीवन-पद्धति व स्थिर प्रज्ञा बताया गया है। वैसे भी समाज में अपराध किसे कहा जाए, यह मानक स्थिर नहीं है। इसे परिभाषित करना आसान नहीं है। जैसे भ्रष्टाचार के दायरे में रिश्वतखोरी से लेकर कर्तव्यहीनता, लालफीताशाही, पक्षपात, नियमों की अवहेलना आदि सब कुछ सन्निहित है, ठीक उसी प्रकार अपराध में भी दायित्वहीनता, झूठ, हिंसा,

ऐसे में यह तय करना कठिन हो जाता है कि यहाँ कौन अपराधी है और कौन निरापराध अपराधी। किसने जानबूझकर एवं टेन्डेसी बनाकर यह कार्य किया और किसने बचाव में अपराध किया। किसने हत्या के लिए हमला किया और किसने बचाव में हत्या की। अपरा ध की मूल जड़ क्या है, कौन है? अमूमन जो ज्यादा पीड़ित दिखता है, लोग उसके प्रति हुए अपराध का आकलन कर लेते है। लेकिन पीड़ित भी अपराधी हो सकता है और होता है। जैसे अपराधी द्वारा हत्या हत्या है, वैसे ही पुलिस-सैनिक-रक्षक द्वारा भी, लेकिन परंपरा से हम अपराधी की हत्या को हत्या की श्रेणी में रखते हैं, पुलिस-सैनिक द्वारा हत्या को अपराध नहीं मानते या कम मानते हैं। परंतु व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि न अपराधी द्वारा अपराध हो और न अपराध नियंत्रक तंत्र द्वारा।

अनाचार, जालसाजी सब कुछ शामिल है। आपराधिक तत्त्वों के अपराध जब साफ दिखाई देते हैं, तो उन पर हाय-तौबा मचता है, सजा भी हो जाती है, लेकिन उससे कई गुना अधिक अत्याचार, सफेदपोश लोगों द्वारा होता है, जिसकी कलई कभी खुलती नहीं। वैसे कोई-न-कोई अपराध हर व्यक्ति करता ही रहता है। जिससे अपना या दूसरे का नुकसान हो, वह सब अपराध ही है। जरूरी नहीं कि यह नुकसान हमेशा तात्कालिक ही हो अथवा दिखाई पड़े ही। कई बार अपराध करने में व्यक्ति लाभ भी देखता है जो व्यक्तिगत भी होता है, पारिवारिक, जातीय, सामाजिक व राष्ट्रीय भी। ऐसे 'लाभ' के चक्कर में व्यक्ति अपराध में प्रवृत्त होता है और उसे कुछ मनचाहा लाभ होता भी है। तब भी यह बात ध्यान रखने योग्य है कि कोई भी अनैतिक कार्य या अपराध यदि सीधे-प्रत्यक्ष हानि न करके कुछ नफा ही दे रहा है, तब भी दीर्घकालिक रूप से अन्ततः उससे नुकसान ही होता है, जिसकी भरपाई मुश्किल होती है।

अपराध केवल व्यक्ति ही नहीं, समाज भी करता है और राष्ट्र भी। एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र पर धौंस दिखाने के लिए हमला करके हजारों-लाखों लोगों को मार देना अपराध नहीं तो क्या है? एक जाति का दूसरी जाति पर जुल्म, एक संप्रदाय द्वारा दूसरे संप्रदाय का कत्लेआम अपराध ही तो है। ऐसे में यह तय करना कठिन हो जाता है कि यहाँ कौन अपराधी है और कौन निरापराध अपराधी।

किसने जानबूझकर एवं टेन्डेसी बनाकर यह कार्य किया और किसने बचाव में अपराध किया। किसने हत्या के लिए हमला किया और किसने बचाव में हत्या की। अपरा ध की मूल जड़ क्या है, कौन है? अमूमन जो ज्यादा पीड़ित दिखता है, लोग उसके प्रति हुए अपराध का आकलन कर लेते है। लेकिन पीड़ित भी अपराधी हो सकता है और होता है। जैसे अपराधी द्वारा हत्या हत्या है, वैसे ही पुलिस-सैनिक-रक्षक द्वारा भी, लेकिन परंपरा से हम अपराधी की हत्या को हत्या की श्रेणी में रखते हैं, पुलिस-सैनिक द्वारा हत्या को अपराध नहीं मानते या कम मानते हैं। परंतु व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि न अपराधी द्वारा अपराध हो और न अपराध नियंत्रक तंत्र द्वारा। इसके लिए जरूरी है कि अपराध के प्रति सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पक्षों से परे रहने वाले लोगों का समाज बने, लेकिन यह तब तक संभव नहीं, जब तक समाज में कहीं भी किसी भी स्तर पर अत्याचार-अपराध हो रहा है। पूर्ण अपराधहीन समाज की कामना तो हो सकती है, पर वास्तव में ऐसे समाज का निर्माण असंभव है।

अविरल साधना है धर्म

-डॉ.सुधांशु चतुर्वेदी

नव-धर्म का अर्थ है मानवता। मानव- ारीर सुलभ हो जाने के बाद मानवता के अभाव में मानव म गवत् हो जाता है। मानव का जन्म मन्नीाी 'मनु' से हुआ। केवल 'मनु' (मन) 'मानवता' उत्पन्न नहीं कर सकता। 'इड़ा' (वि .ाट बुद्धि) एवं 'श्रद्धा' के सहयोग से 'मनु', 'मानव' की स .टि करता है। मानव-धर्म का अर्थ है मानव-कर्तव्य। उसी प्रकार है प्रजा-धर्म, नारी-धर्म, गुरु-धर्म, ि .य-धर्म, राज-धर्म आदि।

मनुस्म ति में कहा गया है कि धर्म मानव-जगत् को धारण करता है। दे ा, काल, परिस्थिति के अनुसार धर्म भी परिवर्तित होता रहता है। धर्म का उद्दे य लोक-कल्याण को धारण करना है। किस वस्तु का कहाँ, कैसा और कितना उपयोग करना चाहिए, इसी को योगविद्या कहा जाता है, 'योगः कर्मसु कौ ालम्।' सच्चा मानव न तो हिंसावादी होता है और न अहिंसावादी। वह तो मानवतावादी होता है, 'जिओ और जीने दो' का पक्षधर होता है। भगवान् राम के अनुसार मानव को एकान्तव्रती सच्चा मानव बनना चाहिए। सत्य, अहिंसा, समाज-सेवा, करुणा, तितिक्षा इत्यादि मानव-धर्मों का समुचित योग उसमें होना चाहिए। भगवान् का अनन्य भक्त भी कभी-कभी अधम सांसारिक सम्पदा अथवा मान-सम्मान की कामना में अपना सर्वस्व लुटा देता है। अनी वरवादी भी कभी कभी ई वर का आराधक बन जाता है। वस्तुतः सनातन धर्म हमारा मानव-धर्म ही है।

वैदिक द .टि से मानव दीन-हीन, दासानुदास अथवा ारणागत प्राणी तो है ही नहीं, बल्कि वह प्रजापति का साक्षात् स्वरूप है। मानव का आत्मकेन्द्र हृदय, वि वात्मा अथवा प्रजापति का रहस्यपूर्ण विलक्षण प्रतिबिम्ब है। साढ़े तीन हाथ के सीमित ारीर में त्रिविक्रम विष्णु के समान विराट है, 'ई वरः सर्वभूतानां, हृद्दे ोऽर्जुन तिष्ठति।' 'अव्यय' प्रजापति से मन, 'अक्षर' से प्राण तथा 'क्षर' से मानव- ारीर का निर्माण होता है।

भारतीय वांग्मय में 'धर्म' ाब्द का अन्य किसी भााा में समानार्थक ाब्द उपलब्ध नहीं है। आजकल 'धर्म' ाब्द का प्रयोग सम्प्रदाय, पंथ, मजहब, दल आदि के रूप में हो रहा है, जैसे हिन्दू धर्म, मुस्लिम धर्म, ईसाई धर्म, सिक्ख धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, यहूदी धर्म आदि। वस्तुतः 'धर्म' ाब्द अत्यन्त व्यापक अर्थ से ओत-प्रोत है। हमारे ाास्त्रों में वर्णाश्रम धर्म, स्त्री धर्म, यति धर्म, आपद् धर्म आदि का वर्णन है। इन सभी के प्रणेता ऋाषिओं के नाम भी हैं। सभी प्राणियों से कैसे व्यवहार करना चाहिए, कैसे अपनी आजीविका चलानी चाहिए आदि सभी की ि ाक्षा धर्म ही देता है। कर्तव्य-पालन और व्यावहारिक जीवन आनन्दप्रद बनाना भी हमें धर्म ही सिखाता है।

सबके लिए धर्म एक ही है, वह मानव-मात्र के लिए सनातन है, ाा वत है। सत्य, अहिंसा, करुणा, ब्रह्मचर्य आदि समस्त सद्गुण सभी के लिए समान हैं। उदाहरणार्थ अँग्रेजों, चीन-निवासियों, अरबवासियों आदि सभी को चीनी मीठी ही लगेगी, ठीक उसी प्रकार धर्म का आचरण चाहे भारतीय करें, पारसी करें, अंग्रेज करें या अरबी करें, सभी को इहलोक तथा परलोक में निःश्रेयस् की प्राप्ति होगी।

मनुय दो प्रकार के होते हैं, दैवी-संपत्ति प्रेमी तथा आसुरी-सम्पत्ति लोभी। आर्य अर्थात् सुसंस्कृत तथा अनार्य अर्थात् अपरिकृत जंगली जन। आर्य वे हैं जो संसार-निव त्ति या मोक्ष के लिए साधन करें और अनार्य वे हैं जो प ाु-पक्षियों, कीड़े-मकोड़ों के समान उदरपोाण की चिंता में मोहव ा सभी कुछ करने के लिए उद्यत हों। भगवान् श्रीकृण ने भगवद्गीता में यही कहा था, ''हे अर्जुन! मोहपा ाबद्ध तुम क्षत्रियधर्म का परित्याग कर रहे हो, यह 'अनार्यजुट', 'अकीर्तिकर' एवं 'अस्वर्ग्य' है। इससे परलोक की

प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि स्वर्ग कीर्तिमान् को ही सुलभ होता है।''

आर्यकुलोत्पन्न रावण मात द्रोा एवं अपने कृत्यों से राक्षस हो गया था। जब उससे पूछा गया,'तुम अधर्म क्यों कर रहे हो?' तो उसने स्पट ाब्दों में कहा,'नहीं, मैं कोई अधर्म नहीं कर रहा हूँ, मैं तो अपने राक्षस-धर्म का पालन कर रहा हूँ।' 'राक्षसानामयं धर्मः परदाराभिम ानम्', 'परस्त्री का अपहरण करना तो राक्षसों का अपना धर्म ही है।' ऋाियों ने कहा है, 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः सः पन्थः,' अर्थात् 'बुद्धिमान् तत्त्वद ार्ी बड़े लोग जिस मार्ग से जाएँ, वही धर्म है।' धर्म में दो बातें प्रमुख हैं। पहली बात यह कि अपने आचरण को ुद्ध रखो अथवा दुर्गुणों को त्यागकर सद्गुणों का वरण करो। दूसरी बात यह कि ुद्ध आजीविका से निर्वाह करो। सनातन धर्म किसी जातिवि .ो, समाजवि .ो या दे ावि .ो के लिए नहीं है, वह तो समस्त मानव-रा ि ा के लिए है। यह सदैव एक-सा रहता है, क्योंकि यह ाा वत धर्म है, अपरिवर्तनीय एवं अनिवार्य है।

पुरातन ाास्त्रों में बाह्य धर्म का संबंध कर्म या स्वभावगत क्रिया से था। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण के लिए ाम, दम, तप, ौच, क्षान्ति, मृदुता, ज्ञान-विज्ञान, आस्तिकता, वेदाध्ययन एवं यज्ञ करना ये तो आंतरिक धर्म हैं। तब वह अपनी आजीविका कैसे चलाये? बिना ुद्ध आजीविका के धर्माचरण संभव नहीं। इसलिए आजीविका भी धर्मानुकूल हो, तभी वह धार्मिक बना रह सकता है। गृहत्यागी, विरागी, सर्वस्वत्यागी, ब्रह्मचारी या संन्यासी होने पर तो भिक्षा का अन्न ही उसके लिए अमृत है और वही उसका सर्वोत्तम धर्म है।

महाभारत का युद्ध वि ुद्ध धर्मयुद्ध था। क्षत्रियकुलोत्पन्न पाण्डव अपने धर्म का पालन राजा दुर्योधन के अधीन रहकर भी करने के लिए तत्पर थे। इसलिए वे पाँच भाइयों के लिए कुल पाँच गाँव मिलने पर संतुट हो जाते; किंतु दुर्योधन अपने प्राण रहते पाण्डवों को सुई की नोंक के बराबर भूमि भी बिना युद्ध के देने के लिए तैयार नहीं था। इसीलिए युद्ध छिड़ा। मानव दो कारणों से ही धर्म छोड़ता है, ि्रयों के लोभ से या कुटुम्बियों के मोह से। भगवान् श्रीकृण के धर्म-रहस्य बता देने पर अर्जुन ने धर्म-पालन-हेतु युद्ध किया, न कि राज्य-प्राप्ति के लोभ से। भगवद्गीता में यही तो कहा गया है, 'अपना धर्म चाहे विगुण भी हो, द्रोायुक्त भी हो तथा दूसरे का धर्म कितना ही सुन्दर क्यों न हो, फिर भी अपने धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। स्वभावनियत कर्म को करता हुआ प्राणी द्रोाी नहीं कहा जा सकता।'

''अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभयता।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः।।''

श्रीमद्भागवत के उपरिलिखित लोक में यही कहा गया है कि अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, काम, क्रोध, लोभ से बचे रहना, सभी प्राणियों के हितकर एवं प्रियंकर कार्यों को हमे ाा करते रहना, ये सभी वर्णों के लिए सामान्य नियम हैं। इन धर्मों का पालन मानव-मात्र को करना चाहिए। यह आर्य, अनार्य, म्लेच्छ आदि सभी से धर्माचरण एवं सद्गुणों को धारण करने की बात ही कहता है। महात्मा रैदास के समक्ष बड़े-बड़े ब्राह्मण श्रद्धा से नतमस्तक हो जाते थे। उन्होंने कभी अपना व्यवसाय नहीं छोड़ा। उन्होंने सदैव निर्द्रोा भगवद्-भक्तिरूप धर्म का मनोयोग से पालन किया। परिणामतः वे सर्वपूजनीय भक्त ाि ारोमणि बन गए।

भारतवर्ा में धर्म का संबंध किसी व्यक्तिवि .ोा के नाम से नहीं जोड़ा गया। यहाँ के समस्त आर्ा ग्रन्थ धर्मग्रन्थ ही हैं। उनमें आस्तिक, नास्तिक आदि सभी ग्रन्थों का समावे ा है। 4 वेद, 4 उपवेद, ि ाक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योति, छन्द, ये 6 वेदांग, पूर्व मीमांसा, उत्तरमीमांसा, वै ोषिक, न्याय, सांख्य, योग, पा ुपत, ैवण्व, सौगत (बौद्ध), जैन (अर्हत), लोकायत (चार्वाक) सभी प्रकार के तर्क प्रधान द ान, 18 पुराण, 18 उपपुराण, आदि सबके सब धर्म ाास्त्र हैं। इसी प्रकार ि ाक्षा के भी असंख्य ग्रंथ हैं, ज्योति के भी अगणित ग्रन्थ हैं तथा

आयुर्वेद के ग्रन्थों की तो सीमा ही नहीं है। 18 विद्याएँ हैं जो सभी धर्मों का विवरण देती हैं। समस्त ऋषि-मुनि धर्मप्रवर्तक नहीं, प्रचारक रहे हैं। बहुतों का अनुभव दूसरों के विरुद्ध भी है। 'नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्' अर्थात् 'वह मुनि ही नहीं जिसका मत भिन्न न हो।' यह सब होते हुए भी धर्म का रहस्य सर्वत्र ओत-प्रोत है। वस्तुतः धर्म का संबंध सद्गुणों से ही है।

धर्म मन की शुद्धि करता है। मन की शुद्धि होती है सद्गुणों से। महाभारत के निम्नलिखित श्लोकों में धर्म की पूरी-पूरी व्याख्या कर दी गयी है-

'धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।।
प्रभावार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।।
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसासंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।।
बहून् यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम।।
लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः।
उभयत्र सुखोदर्कं इव चैव परत्र च।।'

अर्थात् धारण करने से धर्म कहलाता है, धर्म ही प्रजा को धारण किए हुए है। जो धारण-संयुक्त है, जिससे समाज सधा रहे, समाज में उच्छृंखलता न आने पाए, वास्तव में वही धर्म है। धर्म होता है उन्नति के लिए। जो सर्वत्र इहलोक और परलोक में उन्नति करने वाला है, वही धर्म है। प्राणियों में अहिंसा का प्रचार हो, लोग एक दूसरे को पीड़ा पहुँचाना छोड़ दें, धर्म का प्रवचन इसी हेतु किया गया है। जो अहिंसायुक्त है, परपीड़ा से रहित है, वस्तुतः धर्म वही है। जो धर्म बहुतों को पीड़ा पहुँचाए, बलपूर्वक जिसे मानने को लोगों को विवश किया जाए, वस्तुतः उसे धर्म नहीं कह सकते, वह तो कुधर्म है अधर्म है। हे सत्यविक्रम! जो अविरोधी है, किसी को हानि नहीं पहुँचाता, किसी की मान्यता पर आघात नहीं करता, वही धर्म है। संसार यात्रियों का एक समूह है। सभी यात्री हैं। सभी कहीं जा रहे हैं। यह लोकयात्रा जिस साधन से सरल-सुगम बने, वही धर्म है। इसी के लिए सभी धार्मिक नियम हैं।

यदि किसी व्यक्ति की माता-बहन को कोई कुदृष्टि से देखे तो उसे कष्ट होगा और उसकी लोकयात्रा दुःखद होगी। इसीलिए धर्मवेत्ताओं ने नियम बना दिया 'मातृवत् परदारेषु' अर्थात् दूसरों की स्त्रियों को माता के समान समझो। जिन नियमों से इस लोक में और मृत्यु के उपरांत परलोक में भी सुख हो, वही धर्म है। धर्म की निष्पक्ष, सार्वभौम व्याख्या है यह। धर्म के प्रचार के लिए कुल परम्परागत मान्यताओं को त्यागने की बात कभी कही ही नहीं गई। बौद्ध-भिक्षु और ब्राह्मण-संन्यासी हजारों की संख्या में एशिया तथा यूरोप में ईसाई धर्म, मुस्लिम धर्म और यहूदी धर्म के जन्म से पहले ही पहुँच चुके थे। उनका जीवन त्यागमय होता था। वे फटे-पुराने चिथड़े लपेटे रहते थे। ईरान, तुर्किस्तान, अफगानिस्तान, चीन, जापान, लंका, जावा, मंगोलिया तथा यूरोप के सभी देशों में ये त्यागी-विरागी महात्मा पहुँच चुके थे। इन लोगों ने किसी भी अन्य देवता का विरोध नहीं किया। किसी पारम्परिक मान्यता और पैतृक धर्म को छोड़ने के लिए भी नहीं कहा। विश्वप्रेम, सत्य, सदाचार, सरलता, अन्तःकरण की शुद्धि एवं योगसाधना पर ही ये सन्त-महात्मा बल देते थे।

आत्म शुद्धि, आध्यात्मिक उन्नयन और अन्तःकरण की पवित्रता को ही भारतीय मनस्वी धर्म-प्रचारकों ने धर्म का प्रमुख अंग माना है। हिन्दुओं में बाह्य मान्यता, रीति-रिवाज, सम्प्रदाय तथा उपासना-पद्धति के भिन्न होते हुए भी मूलतः सब एक ही धर्म के अनुयायी हैं, हम उसे वैदिक धर्म कहें या सनातन धर्म, आर्य-धर्म कहें या मानव-धर्म अथवा हिन्दू धर्म।

वस्तुतः यथार्थ-धर्म देश, काल, सम्प्रदाय, रूप-रंग तथा सीमा में बाँधा नहीं जा सकता। मेधावियों द्वारा सुनिपादित मानव जीवन के ज्योतिर्मय पथों की रक्षा करने का कर्तव्य मानव का ही है। मेधावी मानवों ने जो मानवीय मर्यादाएँ संस्थापित की हैं या मानवों के लिए जीवन के अनुभूत एवं समुज्ज्वल

आद र्ा उपस्थित किए हैं, उन पर स्वयं चलना तथा दूसरों को चलने की प्रेरणा देना ही ज्योतिर्मय पथों की रक्षा करना है।

यथार्थ मानवता वही है जिसके समक्ष दानवता रफूचक्कर हो जाए। आज की मानवता सद्भावना, ाांति, सहिष्णुता तथा प्रेम की खोज में है। यदि मानवता के समक्ष दानवतापूर्ण राजनीतिक दाँवपेंच तथा युद्ध की भीाण धमकियाँ बनी रहती हैं तो यह मानवता की पराजय है। मानवता की रक्षा एवं युद्धों की समाप्ति के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप सन् 1920 में 'ऱाष्ट्रसंघ' (लीग ऑफ ने ान्स) तथा द्वितीय वि व महायुद्ध के प चात् सन् 1945 में 'संयुक्त ऱाष्ट्रसंघ' (यूएनओ) की स्थापना हुई जिसके अन्तर्गत मानवाधिकारों की घोाणा हुई और मानवता की सुरक्षा के अनेक असफल प्रयत्न हुए। सन् 1954 में तत्कालीन प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भारतीय संस्कृति एवं परम्परा के आधार पर 'पञ्च ील' के सिद्धांतों (सार्वभौमिकता का समादर, अनाक्रमण, अहस्तक्षेप, पारस्परिक सहयोग एवं समानता तथा ाांतिपूर्ण सह-अस्तित्व) की घोाणा की जिन्हें सर्वप्रथम चीन, तदुपरांत एि ाया, अफ्रीका के 29 दे ाों ने वांडुंग सम्मेलन में निर्विरोध स्वीकार किया। नेिः नेिः पोलैंड, युगोस्लाविया, रूस, एथोपिया, मिश्र आदि दे ाों ने मानवता के हित के लिए इन महान् सिद्धांतों को अपनाया। हमें 'जियो और जीने दो' के सिद्धांत को कार्यरूप में परिणत करना है। तभी मानवता युद्ध-भय एवं कलह के दुःखद वातावरण से मुक्ति पाकर वि ाुद्ध प्रेम एवं सहानुभूतिपूर्ण ाांति एवं समृद्धि के स्वच्छन्द वातावरण में सुख की साँस ले सकेगी।

भाा, वेा-विधान, खान-पान एवं चरित्र- इन सबको मिलाकर 'संस्कृति' कहलाती है। अतएव भारतीय संस्कृति के आद र्ा सद्गुणों एवं सदाचारों को जीवन में सम्यक्रूपेण आत्मसात करना चाहिए। मनुय की मानवता भी यही है, अन्यथा, साक्षात् प ाु ही है। चाणक्य के ाब्दों में,

'येाां न विद्या न तपो न दानम्,
न चापि ीलं न गुणो न धर्मः।
ते म त्युलोके भुवि भारभूता,
मनुयरूपेण म गा चरन्ति।।'

अर्थात् जिनमें न विद्या है, न तप है, न दान है, न ील है, न गुण है और न धर्म ही है, वे इस मनुय लोक में पृथ्वी पर भार बने हुए मनुय-रूप में प ाु ही फिर रहे हैं।

आध्यात्मिक अनुभूति के आधार पर सामंजस्य, ाांति, प्रेम और आनन्द से पूर्ण एक नयी सामाजिक वि व-व्यवस्था स्थापित की जा सकती है। मानवता का आध्यात्मिक धर्म ही भविय की आ ाा है। आंतरिक भावना तो एक ही हैं; किंतु अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा आध्यात्मिक जीवन अपनी आत्माभिव्यक्ति तथा आत्मविकास के साधनों की विविधता एवं स्वतंत्रता पर अधिक बल देता है। मानव-धर्म का तात्पर्य ही इस सत्य का अधिकाधिक अनुभव करना है कि आत्मा एक दैवी सत्ता है, जिसके अन्दर हम सब एक हैं और धरती पर मानवता उसका सर्वोच्च आधार है। मानव-जाति एवं मानव-प्राणी ही वे साधन हैं जिनके द्वारा दैवी आत्मा उस जगत् में अपने को अभिव्यक्त करेगी। मानव के सारे कार्य ई वर की उपासना तथा त्याग की सच्ची भावना से पूर्ण होने चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृण कहते हैं, 'हे कौन्तेय। तुम जो कुछ करो, जो कुछ खाओ, जो कुछ हवन करो, जो भी दो, जो भी तप करो, वह मुझे समर्पित कर दो- 'यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुव मदर्पणम्।'

यदि सार्वजनिक जीवन के विविध क्षेत्रों में काम करने वाले नर-नारी, राजकीय और सैनिक विभागों के कर्मचारी, समस्त ि ाक्षकगण, सारे व्यापारी तथा खेतों, खानों, कारखानों में काम करने वाले श्रमिक मात्र पैसा कमाने के संकुचित द .टिकोण से काम न करके सभी प्राणियों में अवस्थित ई वर की उपासना रूप में कर्म करें तो सारा वातावरण परिवर्तित हो जाएगा और भ्रटाचार स्वयमेव ऩटप्राय हो जाएगा।

आध्यात्मिक अभिन्नता ही अखिल वि व में मनोवैज्ञानिक अभिन्नता उत्पन्न करेगी जो किसी बौद्धिक या बाह्य स्वरूप पर आश्रित नहीं रहेगी और एक मुक्त आंतरिक स जन एवं स्वतंत्र विविध बाह्य आत्माभिव्यक्ति से अपने सुरक्षित ऐक्य को

वस्तुतः मंदिरों और गिरजाघरों में घंटों के ोरगुल में हम पड़ोसी की चीख-चीत्कार को सुन नहीं पाते। मोक्ष और स्वर्ग के स्वप्नों के बीच अपने मानव-धर्म का पालन करना हम भूल जाते हैं। राजा ि ावि ने भगवान् से यही प्रार्थना की थी कि वे राज्य, स्वर्ग या पुनर्जन्म न लेने की इच्छा नहीं रखते, वे तो दीन-दुःखी प्राणियों के दुःख-दर्द को दूर करने की कसी भी परिस्थिति में विना ा के गहरे गर्त में फेंकेंगे नहीं। एकता एवं सामंजस्य ही मानव में प्रवाहमान विकासवादी प्रक्रिया के परिणाम होंगे। अपने में सीमाबद्ध न रहकर व्यक्ति जैसे परिवार, जाति तथा ाट्र के रूप में विकसित होता आत्मा की एकता के आधार पर वि व प्रकृति के कार्य में मानव सहयोग दे, अन्यथा अपने 'अह' के कारण मानव को विना ा का सामना करना पड़ सकता है। अतएव व्यक्तिगत स्वतत्रता को अक्षुण्ण रखते हुए सामाजिक प्रगति के साथ अग्रसर होने की महती आव यकता है। बाह्य स्तर पर ाट्रमडलों तथा वि वराज्य की स्थापना की दि ाा में प्रयत्न किए जा रहे हैं। मानवता के अन्तस्तल में स्थित चेतना के आधार पर अथवा समान विचार, अनुभव एव कार्य के आधार पर वि व-जीवन सगठित करने की नितात आव यकता है।

सम द्ध करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहेगी।

'मानुं रूपम्' में ही जिस साधक ने 'रूपमै वरम्' के द ान कर लिए, उसने सर्वस्व पा लिया। इसलिए अपने ग हस्थ जीवन में ही मानव के कंधे से कंधा मिलाकर सांसारिक कार्य करते हुए उच्चात्युच्च एवं गहनातिगहन तत्त्व के द ान किए जा सकते हैं। ईसा मसीह ने 'अपने जैसा ही अपने पड़ोसी से प्यार करो' का उपदे ा इसीलिए तो दिया था। मानव-सेवा और मुहब्बत का यही पैगाम पैगम्बर मोहम्मद नबी ने अरबवासियों को सुनाया था। सेवा, प्रेम और अहिंसा का यही संदे ा सेवाग्राम की एक कुटी से महात्मा गांधी ने अखिल वि व को दिया था।

रामकृण परमहंस ने एक युवक को बड़े प्यार से यही समझाया था, 'बेटा! अपनी बूढ़ी माँ को असहाय छोड़कर तुम्हें मोक्ष नहीं मिल सकता। अपने पूरे मनोयोग से माँ की सेवा करो। उसी से तुम्हारा मंगल होगा और तुम्हें मोक्ष मिलेगा।' कितना गहन तत्त्वोपदे ा था, जो उस युवक को विवेकानन्द में परिवर्तित कर सका।

वस्तुतः मंदिरों और गिरजाघरों में घंटों के ोरगुल में हम पड़ोसी की चीख-चीत्कार को सुन नहीं पाते। मोक्ष और स्वर्ग के स्वप्नों के बीच अपने मानव-धर्म का पालन करना हम भूल जाते हैं। राजा ि ावि ने भगवान् से यही प्रार्थना की थी कि वे राज्य, स्वर्ग या पुनर्जन्म न लेने की इच्छा नहीं रखते, वे तो दीन-दुःखी प्राणियों के दुःख-दर्द को दूर करने की कसी भी परिस्थिति में विना ा के गहरे गर्त में फेंकेंगे नहीं। एकता एवं सामंजस्य ही मानव में प्रवाहमान विकासवादी प्रक्रिया के परिणाम होंगे। अपने में सीमाबद्ध न रहकर व्यक्ति जैसे परिवार, जाति तथा ाट्र के रूप में विकसित होता आत्मा की एकता के आधार पर वि व प्रकृति के कार्य में मानव सहयोग दे, अन्यथा अपने 'अहं' के कारण मानव को विना ा का सामना करना पड़ सकता है। अतएव व्यक्तिगत स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखते हुए सामाजिक प्रगति के साथ अग्रसर होने की महती आव यकता है। बाह्य स्तर पर ाट्रमडलों तथा वि वराज्य की स्थापना की दि ाा में प्रयत्न किए जा रहे हैं। मानवता के अन्तस्तल में स्थित चेतना के आधार पर अथवा समान विचार, अनुभव एवं कार्य के आधार पर वि व-जीवन संगठित करने की नितांत आव यकता है।

जनतंत्र में जलतरंग

संजय मिश्र

जनतंत्र उस जलाशय के समान होता है, जिसमें अगर एक कंकड़ भी उछालें तो उसके अंदर से ऐसी जलतरंग उठती है कि वह अपनी अंतिम सीमा, जहाँ तक हमारी नजरें दष्श्यमान होती हैं, अपने मनोहारी गोल घेरे में लेती चली जाती है। स्वस्थ जनतंत्र में भी ऐसा ही कुछ होता है, इसमें अगर कहीं से भी कोई मुद्दा उछाला जाता है तो पूरे तंत्र को प्रभावित करता है, इसमें आम नागरिक, कार्यपालिका, न्यायपालिका, विधायिका और मीडिया सभी शामिल हैं।जब प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी ने आठ नवंबर की रात्रि को भ्रष्टाचार पर जोरदार निशाना साधते हुए नोटबंदी नामक पत्थर उछाला तो जनतंत्र के हर पाए से टकराते हुए इसने अनेक प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया। नोटबंदी के बाद जिस तरह भ्रष्टाचार में लिप्त तत्वों ने बेशर्मी से सरकारी तंत्र से गठजोड़ करके काला धन जमा किया था, एक बार फिर उसी बेहयापने से नोटबंदी के कारण उसे कूड़ा बनने से रोकने के लिए प्रोफेशनल दलालों, बैंक के अधिकारियों एवं कर्मचारियों से गठजोड़ कर उसे सफेद करने में लग गए। दूसरी तरफ आम आदमी अपनी दैनिक जरूरतों के लिए दिन भर कतारों में दर-दर की ठोंकरे खाकर भी केन्द्र सरकार के इस सफाई अभियान को सफल बनाने के लिए जय-जयकार करता रहा।

जनतंत्र की रीढ़ आम आदमी को भड़काने के लिए ज्यादातर राजनीतिक दल से लेकर विविध बेईमान स्वार्थी तत्व अनेक प्रयासों में लगे हैं, परंतु आम जनता प्रधानमंत्री के इस कदम को हर हाल में समर्थन दे रही है। इसी का परिणाम है कि प्रधानमंत्री खम ठोककर देश के भ्रष्टाचारी तत्वों को चुनौती दे रहे हैं और दिन-रात छापे पर छापे पड़ रहे हैं तथा इसमें संलिप्त लोग पकड़े जा रहे हैं, चाहे वे नेता हों, बड़े सरकारी अधिकारी हों, बैंकिंग व्यवस्था के अधिकारी-कर्मचारी हों, प्रोफेशनल दलाल हों या फिर अनेक क्षेत्रों के बड़े या छोटे व्यवसायी। आतंकवादियों और नक्सलवादियों को तो सूझ ही नहीं रहा कि कैसे उबरें अकस्मात हुए इस प्राणघाती हमले से।

जब इस चोट से पूरा तंत्र प्रभावित हो रहा है तो जनतंत्र का एक प्रमुख अंग राजनीतिक दल कैसे बच सकता था। आज आम जनता, न्यायपालिका, मीडिया से लेकर चुनाव आयोग, सभी पूछ रहे हैं कि काले धन को बढ़ावा देने या उसे सफेद करने में राजनीतिक दलों का भी बहुत बड़ा हाथ है। जब आम जनता पारदर्शिता और भ्रष्टाचार मिटाने के लिए मोदी जी के हर कदम का स्वागत कर रही है तो फिर सरकार और सारे दलों की भी जिम्मेदारी बनती है कि वे भी पारदर्शिता दिखायें और अपने सारे चंदों के स्रोतों का हिसाब दें।

इसी बीच निर्वाचन आयोग ने राजनीतिक दलों द्वारा प्राप्त किए जाने वाले नकद चंदे की अधिकतम सीमा बीस हजार से घटा कर दो हजार करने की सिफारिश की है। आयोग ने इसके लिए जनप्रतिनिधित्व अधिनियम 1951 में संशोधन का सुझाव दिया है। राजनीतिक दलों को मिलने वाला चंदा आयकर अधिनियम 1961 की ध

ाारा 13 (ए) के अंतर्गत दलों को बीस हजार रुपये से कम के नकद चंदे का स्रोत बताना जरूरी नहीं है। इसी का फायदा उठाकार चंदे की अधिकांश राशि को बीस हजार से कम राशियों में झूठे नामों से अपने खातों में दर्ज कर कानून को ठेंगा दिखाते हैं और करोडों-करोड़ रुपये काले से सफेद करते हैं। यह अधिनियम देश में फैले भ्रष्टाचार की जननी बन गया है।

केंद्रीय सूचना आयोग कई बार राजनीतिक दलों से आग्रह एवं आदेश भी दे चुका है कि अपनी पूरी कार्यप्रणाली को सूचना के अधिकार कानून के दायरे में लाया जाए। परंतु सारे राजनीतिक दल इसके दायरे में आने से अब तक आना-कानी करते रहे हैं। आज चुनाव सुधार के काम में जुटे अनेक पूर्व चुनाव आयुक्तों एवं स्वैच्छिक संस्थाओं की तरफ से एक मांग जोरदार ढंग से उठ रही है कि सीएजी या चुनाव आयोग की ओर से नियुक्त स्वतंत्र ऑडिटर द्वारा सभी राजनीतिक दलों के वित्तीय लेन-देन का सालाना ऑडिट हो और उसकी रिपोर्ट चुनाव आयोग की वेबसाइट पर डाली जाए।

कानपुर में हुई रैली में जनता को संबोधित करते हुए प्रधानमंत्री ने चुनाव आयोग के सुझाव का समर्थन किया तथा चुनाव सुधार को अपनी प्राथमिकताओं में सबसे ऊपर रखने की घोषणा की है। प्रधानमंत्री के आह्वान पर आज पूरा सरकारी तंत्र ऑनलाइन भुगतान व्यवस्था पर जोर दे रहा है, ताकि भ्रष्टाचार और काली कमाई पर प्रभावी रोक लगे तथा भारतीय अर्थव्यवस्था अधिक पारदर्शी बने। देश की आम जनता भी अनेक परेशानियाँ उठाकर प्रधानमंत्री के साथ खड़ी है। परंतु आज चुनाव आयोग, मीडिया तथा आमजनों को भी संशय है कि राजनीतिक दलों को मिलने वाले चंदे के स्वच्छ और पारदर्शी हुए बिना क्या हमारी व्यवस्था पूरी तरह से भ्रष्टाचार और कालेधन से मुक्त हो पाएगी?

प्रधानमंत्री ने जिस ताकत और हिम्मत से नोटबंदी नामक पत्थर से भ्रष्टाचार पर निशाना साधा है और बेनामी संपत्ति की आड़ में काला धन खपाने वालों पर हमला बोल रहे हैं, उसी मुस्तैदी से कालेधन को सफेद करने वाली एक प्रमुख ढाल राजनीतिक चंदे को भी पारदर्शी करने के लिए आगे बढ़ें। तत्काल कम से कम तीन कदम, जिसमें पहला, जनप्रतिनिधित्व कानून 1951 में संशोधन, जिसके तहत 20 हजार तक के चंदे के स्रोत बताने की छूट मिली हुई है का उन्मूलन। दूसरा, सभी राजनीतिक दलों को सूचना का अधिकार कानून के दायरे में लाना। तथा तीसरा, सभी दलों के लिए चुनाव आयोग द्वारा नियुक्त ऑडिटर के माध्यम से हर साल ऑडिट कराना अनिवार्य करने के लिए तत्काल कदम उठायें। और सभी राजनीतिक दल सर्वसम्मति से इसमें साथ दें।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कंकड उछालने से उठा जलतरंग का घेरा उसी जलाशय की अंतिम सीमा तक पहुँचता है, जो पूरी तरह से स्वच्छ और निर्मल हो, कूड़ा-करकट से भरे जलाशय में तो बड़ा से बड़ा पत्थर फेंकने पर भी वही छपाक से, बिना कोई खास हलचल मचाये कुछ पलों में ही शांत होकर बैठ जाता है। आशा है, सरकार एवं समाज के समन्वित प्रयास से हमारा जनतंत्र इतना स्वच्छ-निर्मल बन जाए कि हर छोटे मुद्दे पर भी जनतंत्र रूपी जलाशय में ऐसी नयनाभिराम जलतरंग उठे कि सीमांत तक एक रचनात्मक सरगम पैदा करते हुए शुभाशुभ परिणति को प्राप्त करे।

आम आदमी के सरोकार

राकेश कुमार

दुनिया में आम आदमी के प्रति गहरी सहानुभूति एवं संवेदना इन दिनों दिखती नहीं, बल्कि इस बाजारवाद के चलते एक उपभोक्ता एवं ग्राहक को कंपनियों द्वारा दिये गये विज्ञापनों में अनेक प्रकार से 'टारगेट' किया जाता है। एक उपभोक्ता के रूप में उसे लुभाने और फुसलाने की चेष्टा की जाती है, ताकि किसी उत्पाद को छोटे-छोटे, डिब्बों, पैकेटों में ठीक से आसान तरीके से बेच सके। प्रिंट एवं इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों द्वारा उसे अपनी पकड़ से बाहर न जाने देने के सारे वैध-अवैध हथकंडों का इस्तेमाल कर पाने में कोई गुरेज नहीं करते। वैसे आम आदमी गरीबी एवं बेरोजगारी का कैसे सामना कर रहा है, महँगाई और नागरिक सुविधाओं की कमी से कैसे जूझ रहा है, इस पर जनसंचार माध्यम विशेषतः प्रेस अपना मत बहुत स्पष्टता से देश के समक्ष रखते रहे हैं। किंतु सुधारवाद के दौर में बाजारवाद एवं निजीकरण के पैरोकार आम आदमी के मसलों पर गरीबी, बेरोजगारी एवं महँगाई पर देश के शासक वर्ग द्वारा दिये गये भ्रामक आँकड़ों पर सूचना-समाचार माध्यम प्रायः आँख मूँद कर विश्वास करते आये हैं। नमक जैसी आवश्यक वस्तु को गरीब की पहुँच से बाहर करने और उसकी जेब काटने में सरकार पूँजीपतियों का हौसला बढ़ाती रही है। शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता, पेयजल, सस्ते दामों पर अनाज व दालों को उपलब्ध कराने में सरकार नाकाम रही है और आम आदमी बड़ा ही हताशा का अनुभव कर रहा है। देश की दो तिहाई आबादी गरीब है, पेयजल की शुद्धता महानगरों में ही नहीं है, दूरस्थ अंचलों में कैसे इसकी उपलब्धता सुनिश्चित की जा सकती है। महानगरों में भी सार्वजनिक शौचालय पर्याप्त संख्या में नहीं बनाये गये हैं। जो हैं, वे साफ-सुथरे नहीं रखे जाते या उन पर शुल्क लगा कर गरीब आदमी को उनका लाभ उठाने से वंचित रखा जाता है।

अर्थशास्त्री एवं राजनेता मानते हैं कि विकास एवं आर्थिक वृद्धि के लक्ष्य को पाने में यदि अर्थव्यवस्था में विषमता एवं आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं के महँगे होने और निजी क्षेत्र के हाथ में देने की स्थिति भी आये तो परहेज न किया जाए, क्योंकि लोकतंत्र में सभी नागरिक समान हैं। योग्यता एवं क्षमता के अभाव में एक बड़ा भाग हाशिये पर भी चला जाये, तो क्या हर्ज। देश तो समृद्ध और विकसित देशों की कतार में आ रहा है। बुंदेलखंड के एक कांग्रेसी नेता जो इस समय केन्द्रीय

मंत्री भी हैं, उनका कहना है कि देश की जनसंख्या का एक बड़ा भाग तो ग्रामीण है और वह या तो गाँव में रहता है या शहर की झुग्गी-बस्तियों में आकर बस गया है। मुल्क तरक्की कर रहा है, हाशिये पर गरीब लोगों को बचा कर तथा वितरण एवं आपूर्ति की समस्या का निदान करके आम आदमी को राहत दी जा सकती है। सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विभेद वैषम्य से समाज में वर्गों और जातियों की उत्पत्ति होती है।

कुछ समूह ताकतवर और ज्यादा असरदार हो जाते हैं। कुछ अन्य समूह प्रगति और विकास में पिछड़ जाते हैं। प्राक्ऐतिहासिक काल में कुछ समूहों ने कुछ दुर्बल समूहों पर वर्चस्व स्थापित करके प्राकृतिक संसाधनों और सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में अपनी पकड़ और कब्जा मजबूत करके दूसरों पर अपनी प्रभुता जमा ली थी। सामान्य और विशिष्ट यानी आम और खास का भेद तो था ही, कुछ जनजातीय और धार्मिक-सांस्कृतिक समूहों को हाशिए पर डालने और बेदखल कर या तो खदेड़ दिया गया या अपने ही नगरों व ग्रामों की चौहद्दियों से बाहर टोले-मुहल्लों में रहने को विवश कर दिया था। इन बस्तियों या अरण्यों-पर्वतों में छुपने या खामोश होकर रहने के लिए बाध्य कर दिया गया था। मार्क्स ने 'सर्वहारा' और गाँधी ने उस अंतिम पंक्ति के आदमी की जो बात कही है, वह इस हाशिए के भी बाहर निकले हुए और निकाले जाने वाले वंचित-उपेक्षित समूह को लक्ष्य करके कही है। आज के इस कठिन दौर में कठोर हृदय शासक वर्ग से इस वर्ग को बचाना हमारी चिंता का विषय है, इस चिंता और सरोकार को आम जनता यानी बहुसंख्यक जन सामान्य का सरोकार बनाना है।

लोकतंत्र में आम आदमी की भूमिका, खास आदमी की भूमिका के समान ही महत्त्वपूर्ण है। दूसरे शब्दों में 'कानून के सामने सब बराबर हैं' कहकर हमारा संविधान समानता और स्वतंत्रता सुनिश्चित करता है। इस प्रकार हमारा लोकतंत्र सिद्धांत में आम और खास का फर्क नहीं करता। यद्यपि संविधान के कुछ प्रावधान कुछ वैधानिक संस्थाओं को प्रभावी और अधिकार-संपन्न बनाकर, लोकतंत्र पर विधायिका की सर्वोच्चता की प्रायः घोषणा करता है।

पिछले जमाने में अन्य देशों-समाजों की भाँति सामाजिक, सांस्कृतिक तौर पर विशिष्ट और सामान्य वर्ग मौजूद थे, वहीं पर आर्थिक स्तर के अनुसार भी अमीर व गरीब रहे हैं। जीवन में आर्थिक गतिविधियों एवं संस्थाओं का हस्तक्षेप महत्त्वपूर्ण होने से धनी वर्ग निर्धन वर्ग को दबाने व मिटाने से भी गुरेज नहीं कर रहा और यह निरंतर जारी है। ☆

स्वाधीनता के सरोकार

-राम शरण गौड.

स्वाधीनता का वास्तविक अर्थ स्वतंत्रता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व और राष्ट्र के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के लिए स्वतंत्रता परम आवश्यक है। स्वतंत्र होने पर ही व्यक्ति अपने विवेक और बुद्धि से उपयुक्त निर्णय लेकर और कर्मशील बनकर अपने संकल्पों को पूरा कर सकता है। पराधीन होने पर व्यक्ति का विवेक एवं बुद्धि सभी दूसरे के द्वारा नियंत्रित हो जाते हैं। व्यक्ति मानसिक, शारीरिक और आर्थिक रूप से बँधन में पड़कर न तो अपने विवेक के अनुसार आदर्शों को निर्मित कर सकता है, न ही वह अपने आदर्शों का पालन कर-करवा सकता है। उसका स्वाभिमान विगलित हो जाता है और वह हीनभावना से ग्रस्त हो जाता है।

उसकी सभी रीतियाँ-नीतियाँ स्वयं के विवेक के द्वारा निर्देशित न होकर बाहरी बँधनों से बँधी रहती हैं, जिससे वह स्व-वांछित शिक्षा और लोक-व्यवहार के क्षेत्र में अपना विकास भी नहीं कर पाता है, उसका आंतरिक उत्थान भी नहीं हो पाता। व्यक्ति के लिए अपने परिवार और समाज का उन्नयन करने के लिए स्वतंत्रता का अधिकार सर्वथा आवश्यक है। इस संबंध में डॉ. गोविन्द चंद्र पांडे का कथन उल्लेखनीय है –''स्वतंत्रता का अधिकार मनुष्य के लिए बाहरी परिस्थितियों को घोषित करता है जिनमें उसे अपने विवेक के अनुसार कर्म करने के लिए बाहरी प्रतिबंधों से मुक्ति हो। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरणीय है कि आंतरिक विवेक का भी शिक्षा, संगति आदि के संदर्भ में विकास होता है। अपने को पहचानने के लिए या अपने को खोजने के लिए मनुष्य को एक मानवीय परंपरा का उत्तराधिकारी होना ही पड़ता है। मानवीय स्वतंत्रता की सिद्धि के लिए इस प्रकार पहले तो बाहरी प्रतिबंध या अंकुश का अभाव होना चाहिए, दूसरे शिक्षा-दीक्षा होनी चाहिए, तीसरे विवेक का आंतरिक उदय होना चाहिए। (मूल्य मीमांसा, पृष्ठ 114) व्यक्ति की स्वतंत्रता राज्य की स्वतंत्रता पर आधारित है। व्यक्ति और राज्य की स्वतंत्रता का आधार व्यक्ति के विवेक से ही निर्देशित हो सकता है। स्वतंत्रता के विकास से ही किसी भी समाज में समानता, सामाजिक न्याय और मानव-धर्म की प्रतिष्ठा हो सकती है।

स्वाधीनता या स्वतंत्रता से तात्पर्य व्यक्ति की स्वेच्छाचारिता, निरंकुशता या अपनी इच्छाओं का दास बनना नहीं है, बल्कि उसे मानवीय समाज द्वारा निर्मित नियमों, मर्यादाओं और प्रतिबंधों का अनुपालन करना पड़ता है। स्पष्टतः स्वाधीनता का आशय उन नियमों,

मर्यादाओं और प्रतिबंधों का पालन करना है जो विवेक से नियंत्रित हों और तर्कबुद्धि से निर्णीत और निर्मित हों। किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा उसके अपने स्वार्थों, पूर्वाग्रहों और अहंकार के कारण उस पर थोपे गये न हों। व्यक्ति और समाज के द्वारा निर्मित अनुपालनीय नियम, मर्यादाएँ और प्रतिबंध व्यक्ति की मूल्य चेतना में अभिवृद्धि करने वाले और उसे संरक्षित करने वाले होने चाहिए। यह तभी संभव है जब व्यक्ति और उसका समाज अपने संबंध में अपने विवेक से निर्णय लेने में पूर्ण स्वतंत्र हो। उसका विवेक और मेधा किसी अन्य द्वारा बंधक न बना ली गई हो।

वस्तुतः स्वाधीनता का स्वरूप व्यक्ति के सर्वांगीण विकास का द्योतक ही नहीं, वरन् मानवता के अस्तित्व के लिए भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। विश्व का प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक सुख की आकांक्षा करता है। मनुष्य को सुख की प्राप्ति कभी भी दूसरे के अधीन रहकर नहीं हो सकती है। दूसरे की अधीनता ही सबसे बड़ा दुख है तथा जो अपने वश में हो, अपने अधीन हो, वही परम सुख है। पश्चिम के प्रसिद्ध विचारक हेगेल ने स्वतंत्रता को नैतिकता के मूल्य से संबंधित माना है – 'व्यक्तियों का यह अधिकार कि उनकी चेतना की नियति स्वतंत्रता है, जब वे एक वास्तविक नैतिक व्यवस्था के अंग बनते हैं – परिवार और राष्ट्र का वास्तविक मन ही नैतिक द्रव्य है जिसमें अपने आप से ही विशिष्ट आत्मचेतना प्राप्त होती है। (फिलॉसफी आप राइट, पृष्ठ 153)

स्वतंत्रता और स्वायत्तता राष्ट्रीयता की प्रथम शर्त है। जो राष्ट्र स्वतंत्र नहीं होता है, वह न तो अपना स्वयं का ही उत्थान और विकास कर पाता है और न अपने देशवासियों का ही। अतः मनुष्य की स्वतंत्रता जन्मसिद्ध अधिकार है। पराधीनता की बेड़ियों में जकड़े भारत को लोकमान्य तिलक ने 'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' जैसा नारा देकर भारतवासियों को पराधीनता के अभिशाप से अवगत कराया था और उनकी स्वतंत्रता के प्रति सोयी आस्था और स्वाभिमान को जाग्रत किया था। इतिहास साक्षी है कि विदेशी शासन में जकड़ा भारत पग-पग पर अपमानित होता रहा है और उसका स्वाभिमान खंडित होता रहा है। भारत को वैभव के शिखर से गिरकर दरिद्रता का सामना करना पड़ा। पराधीन व्यक्ति व राष्ट्र के यहां कला, संस्कृति, इतिहास, साहित्य, धर्म, दर्शन, अध्यात्म के साथ-साथ समस्त भौतिक उपलब्धियां और समृद्धि-वैभव सभी कुछ हीनता में परिवर्तित हो जाते हैं।

संपूर्ण समाज और राष्ट्र में वैषम्य और अन्याय का बोलबाला हो जाता है। जैसा कि भारत के साथ हुआ। भारत की धन-संपत्ति को तो लूटकर ले ही जाया गया। भारत के साहित्य और संस्कृति का अवमूल्यन कर भारतवासियों को स्वाभिमानहीन बनाकर उनकी मानसिकता भी दासत्व पर केन्द्रित कर दी गई है। इससे वे आज भी अपने ज्ञान, संस्कृति, धर्म, दर्शन की उपलब्धियों पर गर्व करने में संकोच करते हैं।

भारत का यह कैसा दुर्भाग्य रहा है कि पाश्चात्य नाटक समालोचक आर्चर ने भारत की सभ्यता और संस्कृति के संबंध में कटाक्ष करते हुए यहां की महान प्राप्तियों-दर्शन, धर्म, काव्य, चित्रकला, मूर्तिकला, उपनिषद्, रामायण और महाभारत आदि को बर्बरता का एक घृणास्पद रूप कहा था।

वह यह कहते हुए भूल गया कि भारत की महानता धर्म, दर्शन, काव्य, चित्रकला, मूर्तिकला, उपनिषद्, रामायण और महाभारत में ही निहित हैं। उल्लेखनीय है कि महाभारत का अंश 'श्रीमद्भगवत् गीता' विश्व-दर्शन की एक अमूल्य निधि मानी जाती है। परंतु स्वाभिमानहीन शरीरपोषक भारतवासी इस प्रकार के कटाक्षों को सहते रहे और अपने अँग्रेज प्रभुओं के गुणगान और चाटुकारिता में तन, मन, धन से लगे रहे। पराधीन व्यक्ति का सबसे बड़ा अवगुण उसकी हीनभावना है जहाँ समता, न्याय और सत्य के आत्मसुख का कोई स्थान नहीं है। इस तथ्य को गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' की निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रमाणित करती हैं –

भरा हृदय में राष्ट्र गर्व हो, देशभक्ति हो,
समता में अनुरक्ति, विषमता में विरक्ति हो,
राष्ट्र पताका पर लिखा रहे, न्याय-स्वाधीनता।
पराधीनता से नहीं बढ़कर कोई हीनता।

परतंत्र मनुष्य दूसरे के आश्रय में भी निराश्रित रहता है। उसके सुख की मस्ती जड़ता से अच्छादित रहती है और चेतना समाप्त हो जाती है। परवशता की विवशता मनुष्य की आँखों में अलग से ही दिखाई पड़ती है तथा मनुष्य स्वयं ही अनेक विषम समस्याओं से घिर जाता है। अतः मनुष्य के आत्मिक और भौतिक उन्नयन के लिए आत्म स्वातंत्र्य अत्यंत आवश्यक है जो राष्ट्र की स्वतंत्रता से संबद्ध है। राष्ट्रीय धारा के प्रसिद्ध कवि बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' इसी ओर संकेत करते हैं –

विजय मत्त जड़ता है, पराभूत है चेतन,
परवशता की, मानव दृग में, परछाईं है।
विषम समस्याएँ ये घिर-घिर के आई हैं।

परतंत्रता में अपना संपूर्ण ही छिप जाता है। सारे स्वस्थ सपने दबकर रह जाते हैं। सर्वत्र अविवेक और हीनता का साम्राज्य फैल जाता है। अतः राष्ट्र के जागरूक कवि, लेखक, विचारक देश के नागरिकों का भौतिक, मानसिक और वैचारिक परतंत्रता से मुक्ति पाने का आवाहन करते रहते हैं, कुँअर बेचैन के शब्दों में,

आज तक इतिहास में
जो भी पली हों
दासता के वृक्ष की जड़ें खोखली हों
वे कि जिनमें छिप गया
अस्तित्व अपना
और जिनमें दब गया
हर स्वस्थ सपना
आज आलोकित सभी तम की गली हो।

इस प्रकार किसी भी व्यक्ति और राष्ट्र के लिए स्वतंत्रता अत्यंत महत्त्वपूर्ण मूल्य है, परंतु इसकी रक्षा करने के लिए व्यक्ति को अपना धन ही नहीं, तन का भी उत्सर्ग करने के लिए उद्यत रहना पड़ता है, दिनकर ने कहा है–

स्वातंत्र्य जाति की लगन, व्यक्ति की धुन है,

व्यक्ति का स्वार्थ, विषमता, कायरता, हिंसा, भ्रष्टाचार, स्वाभिमानहीनता, अविवेक ऐसे अनेक कारक हैं जो किसी भी व्यक्ति और राष्ट्र को कभी भी परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़वा सकते हैं। किसी भी समाज और राष्ट्र के लिए भ्रष्टाचार अवगुण है जो दूसरे व्यक्तियों के देशप्रेम को खंडित कर देता है। किसी जाति और देश की भूमि, मनुष्य, साहित्य और संस्कृति के प्रति अनुराग, भक्ति और स्वाभिमान ही उसकी और राष्ट्र की स्वतंत्रता को स्थिर रख सकते हैं

देशभक्ति के बल पर ही राष्ट्र की स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखा जा सकता है और उसके गौरव और महिमा में वृद्धि की जा सकती है। अतः जिस व्यक्ति में स्वदेश का प्रेम नहीं, उसका जीवन निरर्थक ही कहा जा सकता है।

बाहरी वस्तु नहीं, भीतरी गुण है।
नत हुए बिना जो अशनि घात सहती है।
स्वाधीन जगत में वही जाति रहती है।

व्यक्ति का स्वार्थ, विषमता, कायरता, हिंसा, भ्रष्टाचार, स्वाभिमानहीनता, अविवेक ऐसे अनेक कारक हैं जो किसी भी व्यक्ति और राष्ट्र को कभी भी परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़वा सकते हैं। किसी भी समाज और राष्ट्र के लिए भ्रष्टाचार अवगुण है जो दूसरे व्यक्तियों के देशप्रेम को खंडित कर देता है। किसी जाति और देश की भूमि, मनुष्य, साहित्य और संस्कृति के प्रति अनुराग, भक्ति और स्वाभिमान ही उसकी और राष्ट्र की स्वतंत्रता को स्थिर रख सकते हैं

देशभक्ति के बल पर ही राष्ट्र की स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखा जा सकता है और उसके गौरव और महिमा में वृद्धि की जा सकती है। अतः जिस व्यक्ति में स्वदेश का प्रेम नहीं, उसका जीवन निरर्थक ही कहा जा सकता है–

व्यर्थ ही जन्मा जगाया देश को जिसने नहीं,
जातीय जीवन की झलक जिसमें कभी नहीं।
मैं राजसुख भोग करूँचित्तौड़ गौरव नष्ट हो,
मुख मोड़दूँ कर्त्तव्य से क्या देशसेवाभ्रष्ट हो।

अधिक प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को कुछ खोना भी पड़ता है। भारत स्वतंत्र तो हो गया। प्रत्येक भारतवासी स्वाधीनता के आत्मसुख का अनुभव कर रहा है; परंतु उन्हें कैसी स्वतंत्रता चाहिये, स्वतंत्रता को कैसे स्थिर रखा जाय और देश के चारों ओर सिर उठा रहे मानवता के हत्यारों से कैसे निबटा जाये, इन बिन्दुओं पर विचार करना चाहिए।

मानवीयता धर्म नहीं, भावना है

नरेन्द्र परिहार

पढ़े लिखे हों या अनपढ़, सबके लिए धर्म एक संवेदनशील विषय है। यह आपके जन्म से ही मिल जाता है और हर दिन बीतते इतना धारदार हो जाता है, जो व्यक्ति को, फिर समूह को अप्रत्याशित रूप में आक्रामक बना देता है।धर्म का आधार निजी विचार या मन में उठी संवेदनाओं को नहीं माना जा सकता। परंतु जैसे ही शनैः शनैः स्थापित मानवीय आधार के प्रामाणिक मूल्यों पर कोई भी समाज या कोई भी समूह उंगलियाँ उठाता है या उन्हें बिना किसी प्रामाणिक आधार के निरस्त या उकसाने की कोशिश करता है तो वह स्थापित प्रामाणिक व्यवहार का उल्लंघन माना जाता है और समूह समाज की मान्यताओं का अतिक्रमण बन जाता है। यही विचार उनकी धार्मिक मान्यताओं की पुष्टि करता है। क्या यह सच नहीं है कि जब मानव आहार, नींद एवं अपने छोटे से कुल की रक्षा करने में जीवन बिताता था और प्रकृति से भी लड़ता था, तब भी धार्मिक प्रतीकों, प्रकृति के संसाधनों पर निर्भरता को स्वीकार कर मानवों के समूह ने विवादों से दूर रहते हुए अपनी भावनाओं से जोड़कर आस्था को जन्म दिया।

प्रागैतिहासिक काल से इस युग तक आते-आते कुछ मान्यताएँ भटकाव से बसेरे तक की गति बनाकर अपने आप में इतनी जड़ता प्राप्त कर गईं कि कोई भी व्यक्ति उसे मानने के सिवाय कुछ भी नहीं सकता था। वहाँ किसी एक व्यक्ति का मार्गनिर्धारण व बुजुर्गों की नसीहत जता अपना सिक्का चलाता था, यानी विश्वास की दुनिया बसाता था, जिसे हम मिथक और आजकल अंधविश्वास कहते हैं। परंतु यह मानने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए कि समाज रचना के समय मनुष्यों में सामाजिक व्यवहार की भावना भरने में इन्हीं धर्मों का हाथ है, वरना हम आज भी आदिम युग में घूम रहे होते। बलवान लोग कमजोरों पर अपना हक जता सब कुछ यों ही लूटते रहते। वैज्ञानिक प्रयोगों को और उनसे उत्पन्न उत्पादनों को स्वीकार नहीं करते। नगर, देश की रचना पर विश्वास ही नहीं करते। गलत हुआ तो बस इतना कि हमेशा दो भावनाएँ धर्म की आड़ में पनपीं, एक यकीन की और दूसरी अविश्वास की यानी यकीन न करने की। हमेशा ये दोनों भावनाएँ मनुष्यों को अलग-अलग गुट बनाकर समाज में इकट्ठी करती रहीं। हमने आधुनिक युग तक आते-आते इन्हें धर्म, मजहब, पंथ में घोषित कर तौर-तरीके तय कर दिए। इसे हम सामूहिक व्यवहार की संज्ञा देते हैं, उन्हें किसी भी प्रकार मानने या मनवाने पर यकीन करते हैं।

मनुष्य जब इतिहास की खोज करने लगा, उन्हें समेटने लगा, जो यकीन और न यकीन करने वालों में हमेशा तालमेल बैठा मानवता का सही मार्ग दिखाता था। ऐसे लोग तादाद में आज भी गिने-चुने ही हैं। क्या मानव धर्म से बढ़कर भी कोई पंथ, धर्म हो सकता है, जो अद्भुत शक्ति में विश्वास करने को कहता है और उसका वैज्ञानिक आधार भी प्रस्तुत करता है। वह यकीन दिलाता है कि सूर्य है, पृथ्वी व ग्रह विचरण करते हैं। हवा, उसके प्रकार, स्रोत व उसकी प्रक्रिया भी बताता है, तो फिर हम व्यवहार में भी एक क्यों नहीं हो सकते? क्या मानव शरीर की रचना किसी धर्म ने अलग की है। क्या दिन-रात की क्रियाओं में बदलाव आ सकता है? क्या जानवरों, वृक्षों, सागर, नभचर, जलचर के क्रियाकलापों की गणना बदली है, फिर हम किसी धर्म, मजहब की कट्टरता क्यों ले बैठते हैं, जो मस्जिद गिरने पर एक समुदाय को उकसाता है। दूसरा मंदिर बनाने के नाम पर मर मिटने को तैयार है। तीसरा सलीब की रक्षा में और अन्य धार्मिक भावनाओं में इतने घिरे हैं कि किसी दूसरी चीज को महत्त्व ही नहीं देते।

एक आदिवासी जो अभी भी अपने जंगलों में जीवन व्यतीत कर देता है, क्या वह देशों द्वारा व्याख्यायित मजहबी आधार के कायदे, नियमों में स्वयं को बाँध पाता है? नहीं; परंतु वह शर्म, हया, वस्त्रों की उपयोगिता, खेती के नये साधनों तथा लड़ाई के आधुनिक हथियारों का उपयोग बखूबी जानता है। क्या वह कभी अपने बसेरे से बाहर आकर हमारे व्यवहार में परिवर्तन लाने के लिए स्थापित धार्मिक रिवाजों का अमानवीय बर्ताव करता है?

तो फिर हम सभ्य समाज में रहने, बसने वाले इस धार्मिक व्यवहार के लिए अपनी कीमती जिंदगी दाँव पर क्यों लगाते हैं?

यह प्रश्न स्वाभाविक है कि क्या वे चेतना जगाना नहीं चाहते? कभी न कभी मानव की सद्भावनाओं व संवेदनाओं का प्रभुत्व आया होगा जो वह मृत्यु पर शोक जताना, गाड़ना, दफन करना, जलाना आदि क्रियाओं को करने लगा। क्या यह शव को सड़ने से रोकने की क्रिया मात्र है, या यह इस सत्य को मानने का तरीका है कि मानव अपनी कौम को अगर जीवित व स्वस्थ रखना चाहता है तो उसे इस क्रिया को करना ही होगा। आगे आकर हम स्त्रियों के कौमार्य को महत्त्व देने लगे और उसे इज्जत समझने की भावना में आए तो सती प्रथा का जन्म हुआ होगा, क्या यहाँ भी धर्म या उसका आडंबर आया? नहीं, यहाँ मनुष्य की वह परिष्कृत भावना थी जो स्त्रीमन की जागरूकता व उसकी असीम वेदनाओं को प्रस्तुत करती थी। परंतु यही सतीप्रथा पुरुषों में नहीं जन्मी, क्योंकि वह स्त्री के मरने पर इस क्रिया को अंजाम नहीं देता था। फिर समाज के संगठित होते ढाँचे ने स्त्री की इस रचना के प्रति विरोधी भावना को जन्म दिया और आज इसे अपराध के रूप में देखा जाता है। आज मानव धार्मिक आडम्बरों व उनके स्थापित दकियानूसी विचारों से ऊपर उठकर सोचता है, तो फिर मानव को मानव समझने की भावना को यकीन में बदलकर मानव धर्म को अपनाना ही सही मार्ग होगा।

हाँ! हमें यह भी समझना होगा कि मानव एक पारम्परिक प्रथा से गुजरते हुए कैसे हिन्दू, ईसाई, यवन, जैन, बौद्ध, पारसी, सिख आदि धर्मों में अपने आपको बदल सका होगा। तब लगता है कि किसी एक जगह कबीलों के रूप में स्थायी बसने की प्रक्रिया और जीवन की आवश्यकताओं के आधार पर पशु-पक्षी पालकर और उपयोग में आने वाले कपड़े, हथियार, रहने के लिए आवास की आवश्यकता, आवश्यक सामग्री ने निश्चित आर्थिक असमानताओं को जन्म दिया होगा और वर्ग भेद परिभाषा में आया होगा। शनैः शनैः कृषि की आवश्यकता ने उपजाऊ और गैर-उपजाऊ जमीनों में विभाजन किया होगा। खेतों में काम करने हेतु आवश्यक मनुष्य बल ने गुलाम प्रथा को जन्म दिया होगा। परंतु कबीलों के विजय के पश्चात् उनका वध करना इस बात को झुठलाता है कि गुलाम प्रथा सिर्फ खेतों में काम करने या मानव शरीर के लिए दैनंदिन क्रियाओं के लिए आवश्यक थी। यहाँ विशाल संस्कृतियों का निर्माण हुआ और धर्म आधारित राज्य अस्तित्व में आए होंगे। इसका सीधा मतलब है कि इन धर्मों का मूल तत्त्व साम्राज्यवादी था और पनपती राज्य सत्ता ने धर्मों को मनवाने के लिए कानून बनाए। इन्हें न मानना कानूनी अपराध माना गया और सजा देने का प्रावधान किया गया, जिसने कट्टरता को जन्म दिया। ताकतवर को ताकत और दुर्बलों में अत्याचार सहने की हीन भावना को जन्म देती रही यही वर्ण व्यवस्था ऊँच-नीच, गोरे-काले की भावना के रूप में जन्मी होगी। इसने धर्म को इतना उठाया कि मनुष्य इसे न मानने की सोच से ही स्वयं को अपराधी मानने लगा, फिर मानव धर्म का परचम कैसे फहराया जाता? हमें मानव धर्म को समझना है तो हमें मानवीय चेतना को बाल्यकाल से ही जगाना पड़ेगा। आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक जैसी अलौकिक परिकल्पना के अस्तित्व को ही नकारना होगा।

आधुनिक विश्व में वैज्ञानिक खोजों ने संसार के भू-भागों को निकटता प्रदान की है। शिक्षा, विज्ञान, कला, व्यापार, स्वास्थ्य व आपदा के निराकरण पर सहयोग तथा अदान-प्रदान के कारण एक दूसरे देशों में स्थायी-अस्थायी रूप से आवागमन हो रहा है। वे अपने धर्म संस्कारों व वेश-भूषा को लेकर आ-जा रहे हैं और एक नई सार्वभौमिक एकता का आधार लेकर नये धर्म का प्रसार हो रहा है जिसे हम धर्म निरपेक्षता कहें या मानवीयता कहें जो अब शत्रुत्व का प्रसार नहीं करता, बल्कि एक सहयोगी संस्था के रूप में जन्म ले चुका है। यदि हम समझते हैं कि वर्षों से धार्मिक उन्माद, मजहबी गर्द को मन-मस्तिष्क से उड़ाना तो बहुत दूर, हटाना भी मुश्किल है, परंतु जागरूक इंसान जब स्वयं के मानव होने का आधार, भूख की जरूरत, जीने का सह-अस्तित्व समझ लेगा, तो उस दिन मानवता का पहला सूर्य उदित होगा, जो अमिट होगा। कट्टरता अब भी अपनी संकीर्णता के विभिन्न रूपों में काँच के बर्तन के समान दृष्टिगोचर हो रही है जो मानवीयता का स्पर्श पाकर तड़क जाएगी और इसे हम मानवीय धर्म नहीं, मानवता की भावना ही कहेंगे। ☆

धर्म के बिना अधूरी है राजनीति

उमेश प्रसाद सिंह

मारे प्राचीन ग्रंथों में धर्म की व्याख्या के संदर्भ में लिखा है कि जो सब लोगों को एक साथ जोड़कर सुसंस्कारित एवं सुसंगठित समाज के विकास हेतु निश्चित आचार-संहिता का निर्धारण करे, जिससे मानव मात्र का अभ्युदय हो, जो सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास और आदर्श समाज की कल्पना साकार करने में सहायक हो, उसे ही धर्म कहते हैं। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है, 'अपने धर्म में स्थित वह कर्मयोगी इस लोक में सब कर्तव्य-कर्मों का आचरण करते हुए भी पाप-पुण्य से मुक्त होकर परम भक्ति को प्राप्त कर लेता है।'

आजकल कुछ लोग कहते हैं कि राजनीति को धर्म से अलग रखा जाए। यह बात वैसी ही है, जैसे शरीर से आत्मा को निकालकर कोई खाने-पीने, चलने-फिरने की पूर्ण आशा रखता है। यह उसकी मूढ़ता ही कही जाएगी। आज देश में जो भ्रष्टाचार, द्वेष और जो अव्यवस्था दिखाई दे रही है, उसका मूल कारण यही है कि हमारे राजनेता धर्म से विमुख हो रहे हैं। महाभारत के शान्ति पर्व में लिखा है, 'जहाँ राजा धार्मिक होता है और प्रजा धार्मिक होती है, वहाँ कोई किसी का शोषक नहीं होता, सब एक दूसरे के पोषक, रक्षक और हित-चिन्तक होते हैं। चरित्र और संस्कृति राष्ट्र की उन्नति के दो पहिए हैं और इन दोनों का ऊर्जा भंडार धर्म है। आज स्वार्थ का बोलबाला भले ही दिखाई देता हो; परंतु कोई भी व्यक्ति परिपूर्ण रूप से स्वार्थी नहीं हो सकता। हर व्यक्ति के अन्दर प्रेम और धर्म का कुछ न कुछ अंश रहता है। व्यक्ति व्यक्ति में जो प्रेम हो जाता है, वह कोई रोटी-कपड़े के कारण नहीं होता। समाज में एकता और आत्मीयता का भाव पैदा करना ही धर्म है। शुद्ध अंतःकरण से मानव का कल्याण करना धर्म है।

हमारे जीवन के कण-कण में धर्म व्याप्त है। हम सभी संस्कार भूमि पूजन से आरंभ करते हैं। यह एक प्रचलित प्रथा है कि प्रातःकाल जैसे ही व्यक्ति निद्रा को त्यागता है तो सर्वप्रथम वह पृथ्वी माता से इस बात के लिए क्षमा याचना करता है कि दिन भर वह अपने पैरों से उनका स्पर्श करने के लिए विवश है, समुद्रवसने देवि पर्वत स्तन मंडले। विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्श क्षमस्व मे।अर्थात् देवी! समुद्र तुम्हारा परिधान है। पर्वत स्तनमंडल हैं, जिनका वात्सल्य रस नदियों में प्रवाहित हो रहा है। हे विष्णु पत्नी! मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। मेरे पैरों से स्पर्श होने की धृष्टता को क्षमा करना। यह एक सा धारण कार्य है; किंतु इसके द्वारा प्रत्येक प्रातःकाल हमारे मस्तिष्क में माता की भक्ति का भाव आता है।

देश हमारे लिए कभी निर्जीव अचेतन पदार्थ नहीं रहा। सदैव समान रूप से अपने बच्चों के लिए सजीव दिव्य माँ के रूप में रहा है। चाहे वे बच्चे निम्न वर्ग के हों या उच्च वर्ग के। हमारे धर्म ग्रंथों में प्रत्येक व्यक्ति के लिए तीन धर्म बताए गए हैं। वे हैं व्यक्ति धर्म, कुलधर्म और राष्ट्रधर्म। इन तीनों धर्मों का पालन करने वाला ही मोक्ष का अधिकारी होता है।

महान दार्शनिक एवं राजनीतिज्ञ चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में प्रजा को सुख देनेवाली राजनीति का धर्म

से अटूट संबंध बताते हुए कहा है, 'सुख का मूल धर्म है।' अपनी कूटनीति के कारण ही जिसका नाम कौटिल्य पड़ा, वह भी राजनीति में धर्म की सत्ता को स्वीकार करता है। अग्नि पुराण में तो यहाँ तक कहा गया है कि आधि-व्याधि से ग्रस्त तथा आज या कल ही नष्ट होने वाले इस शरीर के लिए कौन राजा या शासक धर्मविरूद्ध आचरण करेगा। महाभारत के युद्ध में धर्म समन्वित जीवन होने के कारण पांडव स्वयं संख्या में पाँच होते हुए भी विजयश्री प्राप्त करते हैं। अधर्म का आश्रय लेने के कारण कौरव संख्या में सौ होते हुए भी पराजय का मुख देखते हैं।

महाभारत में एक बहुत ही लोकप्रिय उक्ति है- 'यतो धर्मस्ततो जय।' इस वाक्य से धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा प्रकट होती है। कहते हैं- जहाँ-जहाँ धर्म, वहाँ-वहाँ विजय। यह मूल वचन गांधारी के मुख से निकले हैं। गांधारी का सामर्थ्य सर्वविदित है। वह यह जानती है कि मेरे बालक दुष्ट बुद्धि वाले हैं। इसलिए महाभारत आरंभ होने से पूर्व जब युधिष्ठिर उन्हें प्रणाम करते हैं तो वह आशीर्वाद देती है- 'यतो धर्मस्ततो जय।' और जब दुर्योधन आता है तो भी गांधारी उपर्युक्त वाक्य ही दुहराती है।

आधुनिक युग में धर्म के महत्त्व को महात्मा गांधी जानते थे। उन्होंने ईश्वर और धर्म का अवलम्बन लेकर ही स्वतंत्रता का आंदोलन सन् 1920 से 1947 तक चलाया। उनके जितने व्याख्यान राजनीतिक मंच से होते थे, वे ईश्वर, श्रद्धा व धर्माचरण पर आधारित होते थे। उनकी गीता पर पूर्ण निष्ठा थी और उसी के आधार पर असहयोग और सत्याग्रह आन्दोलन सफल हुआ, फिर भारत स्वतंत्र हुआ। गांधी जी ने जिस रामराज्य की कल्पना की थी, वह धर्म नियंत्रित शासन ही था। रामराज्य में प्रजा की रुचि तथा सम्मति का पूरा ध्यान रखा जाता है। राज्य-शासन के प्रभाव तथा अनुशासन की अपेक्षा धर्म का अनुशासन कहीं अधिक बलवान होता है। समाज, राष्ट्र तथा सम्पूर्ण लोक केवल राजकीय अनुशासन पर ही आश्रित नहीं है। इसमें धर्म की आवश्यकता है। लोक यात्रा का निर्वाह धर्म तथा राज्य दोनों से होता है। धर्म की रक्षा के लिए ही राज्य की स्थापना होती है। राज्य न रहे तो धर्म नहीं रह सकता और धर्म न रहे तो राज्य उजड़ते देर नहीं लगती। किसी भी देश को अधिक दिनों तक गुलाम बनाकर रखने के लिए वहाँ के धर्म तथा संस्कृति को मिटाना आवश्यक होता है। यही कारण है जब भारत पर विदेशियों का शासन था, तब उन लोगों ने भी भारतीय संस्कृति को मिटाने का भरपूर प्रयास किया। महात्मा गांधी का भी दृढ़ विश्वास था कि 'जिसे धारण किया जाए, उसे धर्म कहते हैं।'

सम्राट अशोक का धर्म प्रेम-

मगध के सम्राट बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अशोक राजगद्दी पर बैठा। कहते हैं कि गद्दी पर बैठने से पूर्व उसने अपने असंख्य भाइयों की हत्या कर दी थी। अपने राज्याभिषेक के आठवें वर्ष उसने कलिंग पर आक्रमण किया। उस समय कलिंग बड़ा ही शक्तिशाली और वैभवपूर्ण देश था। उसके पास साठ हजार पैदल, एक हजार घुड़सवार सैनिक और सात सौ हाथी थे। कलिंग ने मगध का कुशलता के साथ सामना किया। लेकिन मगध की विजयिनी सेना का मुकाबला करना आसान नहीं था। अंत में कलिंग पराजित हुआ। इस युद्ध में भयानक नरसंहार हुआ। कलिंग के लगभग एक लाख नागरिक मारे गए। खून की नदी बह चली। यह देख अशोक का हृदय परिवर्तित हुआ। अशोक अब तक क्रूर और अत्याचारी सम्राट था। लेकिन अब उसका मन युद्ध से ऊब चुका था, उसने भगवान बुद्ध का ध्यान किया। धर्म का अनुसरण किया। धर्म का प्रभाव यह हुआ कि वह अहिंसा का पुजारी बन गया और धर्म पर आधारित शासन का सूत्रपात किया। वह प्रियदर्शी अशोक बना। धर्म का बाना पहनकर जिस शासन का सूत्रपात किया, उसने उसे इतिहास में अमर बना दिया।आज धर्म का आदर्श रूप बालकों के सम्मुख रखने के स्थान पर तोड़-मरोड़कर रखा जा रहा है। इसका दुष्परिणाम सामने आ रहा है। धर्म से विमुख होकर देश जीवित नहीं रह सकता। ☆